

डा० नरोन्द्र के सर्वश्रेष्ठ निबन्ध

सम्पादक
भारतभूषण अग्रवाल

राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली



मूल्य		पाँच रुपये
प्रथम संस्करण	:	सन् १९६२
प्रकाशक	:	राजगान्धारी मन्दिर दिल्ली
मुद्रक		कुशाग्र प्रेस दिल्ली

DR. NAGENDRA KE SARVASHRESHTHA NIBANDHANA : ESSAYS

भारत-स्वीकृति

विस्वनाथ जी की बहुत दिनों से इच्छा थी कि मेरे निबन्धों का कोई प्रतिनिधि संकलन प्रकाशित किया जाय। श्री भारतभूषण प्रप्रवास ने अत्यन्त परिश्रमपूर्वक इन निबन्धों का जयन विस्तृत सूचिका के साथ प्रस्तुत कर उनकी इच्छा-पूर्ति ही नहीं की बल्कि मुझे भी उपकृत किया है। फिर भी यह संकलन श्री कन्हैयालाल के सौजन्य के बिना प्रकाशित नहीं हो सकता था। मैं इन तीनों मित्रों के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ।

प्रस्तुत निबन्धों का जयन लेखनस पब्लिशिंग हाउस द्वारा प्रकाशित मेरे आर निबन्ध-संग्रहों से किया गया है (१) विचार और अनुभूति (२) विचार और विवेचन (३) विचार और विश्लेषण (४) अनुसंधान और आलोचना।

दिल्ली विश्वविद्यालय }
दिल्ली।

—नगेन्द्र

विषय-क्रम

भूमिका डा० नगेन्द्र व्यक्तित्व और कृतित्व (भारतभूषण धरबाम)	५
१ कविता क्या है ?	१६
२ रस का स्वरूप	२६
३ कल्प रस का आस्वाद	३६
४ साहित्य में आत्माभिव्यक्ति	४७
५ धनुसंधान और आत्मोत्थना *	५०
६ भारतीय साहित्य की मूलभूत एकता	६७
७ भारतीय साहित्य पर रवीन्द्रनाथ का प्रभाव	७४
८ स्वतंत्रता के पदचात् हिन्दी साहित्य	८५
९ छायावाद की परिभाषा	९५
१० प्रयोगवाद	१०२
११ कामायनी में रूपक-तत्व ✓	११०
१२ कामायनी का महाकाव्यत्व	१२४
१३ मेरा व्ययसाय और साहित्य-सृजन	१३३
१४ कहानी और रेखाचित्र	१३६
१५ दादा स्वर्गीय प० रामकृष्ण गर्मा नवीन'	१४७
परिशिष्ट—	
जीवन-परिषय	१५७
ग्रन्थ	१५६

डा० नगेन्द्र व्यक्तित्व और कृतित्व

डा० नगेन्द्र से मेरा पहला परिचय घाग में लगभग पच्चीस वर्ष पहले हुआ था। सन् १९३६ के पास-पास की बात है। मैं उन दिनों बंबई में इन्टरमिडिएट-इन-कॉमर्स की शिक्षा में रखा था और छायावादी कवियों की अनुकृति पर थोड़ी-बहुत तुक-बदियाँ करने लग गया था। मेरे बड़े भाई (श्री विद्याभूषण घग्गवास) मष्ट जॉन्स कनिज घागरा में बी० ए० के विद्यार्थी थे। यमियों की छुट्टियों में जब वे घर आए तो अपने साथ एक कविता की किताब भी लाए जो छायाव स्वर्गीया पुरुषावबती की रचनाओं का संग्रह था। उसपर बड़े ही सम्बन्धसे मुझसे-बोमल बुभावहार हस्तमेव में एक नाम मिला था नगेन्द्र। मैंने कौतूहलवत्ता भयमात्री से उनका परिचय पूछा ता उन्होंने बताया कि वे उनकी कनिज में एम० ए० (घग्गबी) के विद्यार्थी हैं, बड़े भावुक हैं और छायावादी कविताएं मिसलत हैं। मुझे घभी तब याद है मैंने उस हस्तमेव के सहारे अपने मन में मयलजी का एक कल्पना-चित्र भी बनाया था और उनसे मिसने और परिचित होने का सहज कौतूहल भी अनुभव किया था।

सन् १९३७ में मैं भी बी० ए की शिक्षा के लिए मष्ट जॉन्स कनिज घागरा में भर्ती हुआ। यद्यपि तब तक नगेन्द्रजी अपनी शिक्षा समाप्त कर घागरा छोड़ चुके थे फिर भी बीच-बीच में उनकी चर्चा मुनाई पड़नी रहनी थी। अत्यंत बावू मुभावराय माहिल्य-रत्न-मण्डार के लेखकों घग्गण भी महेन्द्र और पूम्य मुन्देव थी मयल के मुह म उनकी प्रथमा बराबर मुनता रहता था। बीच-बीच में उठनी रहनचामी इन चर्चाओं में उनके बारे में मरा कौतूहल जयता रहता था।

कभी एक दिन उनके दांग हुए। मैं मोचना हू मन् ३८ के घल की बात होगी। हृदिनेव-कप-काम्य-प्रतियोगिता में एक प्रतियोगा मैं भी था। मैंने जौम्य कनिज की दिनचर्या में यह प्रबमर माहिल्य की हृदि म बर्न का मबने बड़ा पब हाता था। उस बार डा० नगेन्द्र भी उस ममारोह में उपस्थित थे।

कह नहीं सकता वे प्रतियोगिता के निर्णयकों में वे या सम्मान्य 'भोख बाँय' के माते बही घाए वे । पर वे मंच पर बैठे वे । और प्रतियोगियों का काम्य पाठ समाप्त हो जान के बाद निर्णयकों को विचार का समय देने की गरज स प्रथमता मे उनस निवेदन किया कि वे भी अपनी एक रचना सुनाने की कृपा करें । भोपणा सुनते ही मेरा मन उछल पड़ा । और दूसरे ही क्षण मैंने नगेन्द्रजी को कविता पढ़ते देखा । कल्पना-चित्रों में किस हृद तक वास्तविकता हो सकती है, यह बताने की तो कोई शक्यता ही नहीं पर वहाँ तक मुझे याद है उनकी उस पहली मन्त्रकी से मुझे कोई निराशा नहीं हुई । उनके गीम्य व्यक्तित्व में एक सजीवापन था छरहरे बदन में एक कोमलता थी और बाणी में सहज सस्कार । उन्होंने धीरे-धीरे एक गीत सुनाया शुरू किया जिसकी पहली पंक्तियाँ मुझे घाब भी याद हैं—

घा सजि तुमको गीत सुनाऊँ

इस कम्पा की उजियारी में सुख के माने पाऊँ ।

उन दिनों जैसे गीत में क्लिष्टता-पङ्कता रहता था उनसे यह निम्न कोटि का था । उसके भाव जैसे सरल और मृदु थे भाषा और अभिव्यक्ति भी सीटी और निरुद्धन थी । सरल प्रणय-निवेदन के इस गीत ने मेरे मन में नगेन्द्रजी के व्यक्तित्व को एक भीठी कोमलता से मद्धित कर दिया । यही कारण था कि प्रथम वर्ष जब साहित्य-रत्न मंडार के कार्यालय में मुझे दुबारा उनके वर्सन का सीभाग्य मिला तो यह जानकर मुझे एक विशिष्ट निराशा-सी हुई कि वे उस समय अपनी एक आत्मोचनात्मक पुस्तक (मुमिजातम्यदन पस्त) के प्रकाशन के सम्बन्ध में प्राण हुए थे । मेरा प्रतिभाशुभ धनकचरा मन बनि जो जिस शब्दा से बेसता था आत्मोचक को उससे बचित रखता था । मैं सोचता हूँ घाब भी हम पाठकों में ऐसे घनेक हैं जो आत्मोचक के काम को जाने-घनजाने कुछ बटिया स्तर बैठे हैं ।

जो हो आत्मोचना-पुस्तक के साथ नगेन्द्रजी ने उन दिनों एक छोटा-ना काम्य-संग्रह भी प्रकाशित कराया—'बनबामा' और नगेन्द्रजी ने कृपापूर्वक उसकी एक प्रति भी मुझे दी थी । घाब साचता हूँ कि 'बनबामा' की रचनाओं की मौलिकता पस्त के काम्य के प्रतिमय प्रभाव के कारण कुछ दब-सी गई थी पर उन दिनों उन कविताओं में मुझे बड़ा रस मिला और वहाँ तक मैं उन्हें समझ गया उनमे काम्य-निष्ठा भी मैंने प्रण की ।

वर 'बनबामा' में जो गुण और शलोप मुझे मिला था वह फिर एक बटना में समाप्त हो गया । मन् १९४ के घास-नाम की बात है । एक बार प्राचेमर प्रकाशकत्र गुण के वर घनामान ही कुछ हिन्दी मैगज दबट्टे हुए । उन दिनों प्रवनिधीन मैगज-मंच का घान्दामन जोरों वर था और मैं भी उन घान्दामन

से प्रभावित होकर प्रगतिशील बन बैठा था। उस दिन की गोष्ठी में साहित्य के मूल सिद्धान्तों पर श्री विभवार्तिविहृ चौहान और नगेन्द्रजी में बड़ी गरमागरम बहस छिड़ गई। मैं स्वभावतः चौहानजी के तर्कों को मुख्य भाव से सुन रहा था और नगेन्द्रजी के एक मुझे व्यर्थ और निस्तार लग रहे थे। तिस पर जब मैंने देखा कि नगेन्द्रजी के स्वर की दृढ़ता व्यंजनों की क्यों बनी हुई है और वे चौहानजी की बातों पर अपनी स्थापनाओं में रचमात्र भी परिवर्तन स्वीकार नहीं करना चाहते तो मुझे बोर निराशा हुई। और जब बहस का घन्ट होते-ही देखकर नगेन्द्रजी ने सहसा एक किनोदपूर्ण वाक्य से सारी दहस काट दी तो मुझे लगा कि वे हसी के सहारे अपनी कमजोरी छिपा रहे हैं।

अपने मानस के कल्पना-चित्र से नगेन्द्रजी के इन व्यर्थ आसोजक-रूप की यह विषमता देखकर मैं ऐसा बग रह गया कि मैंने उनके निकट पहुंचने का कभी कोई प्रयत्न नहीं किया। यों उनसे भेंट करने का और मिसल-मुसल रहने का मौका मुझे सदा मिसलता रहा और वे जब भी मिले मुझे छोटे भाई का-सा स्नेह देते रहे पर उनके व्यक्तित्व में उत्पन्न अपने निराशा-भाव पर मैं बहुत दिनों तक बग न पा सका। मेरे साहित्य-परिपत्र में नगेन्द्रजी के निवास-स्थान पर 'साहित्य-संवेग' के कार्यालय में अनेक बार उनसे मेरी मुलाकात हुई, और वे सदा मुक्तभाव से मुझे अपनाते रहे। माघ १९४७ में दिल्ली में दश के समय एक दिन रात के दस बजे मैंने उनका दरवाजा लटकाने पर ध्यान ही। प्रतीक की सहकारी योजना में भाग लेते समय उन्होंने मुझे कई ऐसे परामश दिए जो बाद में बड़े उपयोगी सिद्ध हुए। आकाशवाणी के अपने काम-काज में मुझे उनसे कई बहुमूल्य सहायता मिली—पर मैं उनके कृतित्व को और उनकी उपमन्य को कभी भी सही परिदृश्य में न देख सका। मेरी यह बड़ मूल पारणा थी कि वे मूलतः कवि हैं जो छायावाद का रंग उठर जाने के कारण और नई काव्य-भाषा में अपना मैम न बैठा सकने के कारण कविता लिखना छोड़कर अपनी प्रतिभा के साथ धर्म्याय कर रहे हैं। बाद में संयोग से एक बार उनके परपत्नी काव्य-संग्रह 'धर्मपत्नी' को पढ़ने पर भी मेरे मन में इसी धारणा की पुनरावृत्ति हुई।

यह बात नहीं है कि मैं नगेन्द्रजी के आलोचक-रूप में निरान्त अनभिन्न या अपरिधिन्न था। समय-समय पर उनके विबंध पत्र-पत्रिकाओं में मिलने रहते थे और उनके प्रबंधों पर भी तब तक पढ़नी रहनी थी। पर इन विबंधों और प्रबंधों के विषय मुझे कुछ पुछने-जे लपने थे। काव्य की जिस बेगबती धारा में मैं घनायाम बहा चला जा रहा था उसमें उनका कोई विधान गवय दिखाई नहीं पड़ता था। तिसपर उन दिनों मेरा अपना जीवन कुछ ऐसी निजी समस्याओं

घीर उलझनों से घिरा हुआ था और चटना चर्मों के घात-प्रतिघात में ही निरन्तर ऐसा घूमता भटकता फिर रहा था कि यथा-कथा काव्य-रचना के प्रतिरिक्त हिन्दी-साहित्य के उच्च संघर्ष में ही एक प्रकार से बचिष्ठ ही हा गया था । प्रयाग में सन् १९२४ के आस-पास जब मैं कुछ स्वयं घीर घंघी पा सका तभी पहली बार नियमित सम्मेलन का क्रम प्रारंभ कर सका । घीर तभी पहली बार ही मगधजी के विकास को एक मण घीर सही परिप्रक्ष में देखने में सफल हो सका । मैंने पाया कि मगधजी के कविता-सृजन बढ़ कर देने से हिन्दी-काव्य की हानि चाहे हुई हो या न हुई हो उन्होंने आलोचना का शोध अपनाकर हिन्दी के एक उत्कृष्ट समाज की पूर्ति की घीर हृदयम उद्वेग है घीर मूलतः कवि होने के जाने से साहित्य के सही मूल्यांकन की घीर प्रकृत हो रहे हैं । उन समय के अन्य आलोचकों ने राजनीति घीर मत्वा के पुत्र प्रहो को अपनाकर आलोचना को जो भीषण घात पहुँचाई थी मगधजी उसका प्रतिहार करने में सजे हैं घीर बहुत दिनों बाद पहली बार साहित्य में उन मूल्यांकी चर्चा उठाई जा रही है जो उसके अपने निजी हैं । तब से अब तक मैं बराबर मगधजी के आलोचना-कार्य को भ्रष्टा घीर प्रगंमा से देखता आया हूँ घीर यद्यपि समसामयिक हिन्दी कविता के मूल्यांकन के सम्बंध में मैं उनसे सहमत नहीं हो पाता हूँ फिर भी यह निर्विवाद है कि मगधजी ने साहित्य सृजन के मूलमोठों की शोध की घीर ध्यान दिनाकर, प्राचीन भारतीय साहित्य-शास्त्र घीर पारचार्य साहित्य-शास्त्र का मगधजी सम्मेलन प्रस्तुतकर, घीर आलोचना के प्राचीन मानदण्डों को पुनानुसूक्त नई व्याख्या में सम्पन्न कर हिन्दी में स्थायी महत्त्व का कार्य किया है घीर हिन्दी आलोचना को नई प्रतिष्ठा में मंडित किया है ।

[२]

'शुभ्रिजानन्दन पत्र' का प्रकाशन सन् १९३० में हुआ था । यद्यपि हमने पूर्वं ही अपने विद्यार्थीनाम में ही मगधजी आलोचनात्मक निबंध लिखने मत्र मण घीर सन् १९३७ में 'साहित्य-संदेश' के प्रकाशन में से अपने हृदय में पाठकों के सम्मुख आने मत्र मण से फिर भी मगधजी के मन्त्र कार्य का प्रारंभ हमी घम म जाना जा सकता है । सन् ३७ में मगधजी का घंघेजी घीर हिन्दी का मम० म पाठ किए सो-मक मय ही हुए म घीर घाती मत्र प्रबल पुनरु में उन्होंने आयाचार्य के प्रमुख कवि को साहित्य के विद्यार्थी की ही दृष्टि में देखा था । स्वयं प्रवृत्ति में आयाचार्य के अनुसूक्त हान के कारण से मगधजी को मगध महासूक्ति से मत्र से । यों भी से उनका प्रिय कवि घीर घात्र भी है । फिर भी आलोचना के शत्रु में 'शुभ्रिजानन्दन पत्र' का याददात मत्र उल्लेखनीय साहित्यिक पत्रा है । त्रिम प्रकार उनके पूर्ववर्ती आचार्य

रामचन्द्र शुक्ल ने पहली बार सूर, जायसी और तुमसी का विवाद एक सांगो पांग विवेचन कर हिन्दी के इन महाकवियों की प्रतिभा को प्रकाशित किया था उसी प्रकार नगेन्द्रजी ने 'मुमिबानन्दन पत्र' और 'साकेत एक अध्ययन' मिलकर अर्धशताब्दी कवियों को समुचित स्थान देने का शीघ्रयत्न किया। कवि गुरु मैथिलीशरण गुप्त के काव्य पर तो और भी आलोचक पुस्तकें मिल चुके थे (जैसे—मिथिलाजी और डा० सत्यन्द्र) पर पंथजी के काव्य के विस्तृत विवेचन का यह प्रथम प्रयास था। पर प्रथम प्रयास होते हुए भी उसमें प्रौढ़ता गंभीरता और स्पष्टता का प्रमत्त सम्मिश्रण था। सब तो यह है कि अपनी पहली पुस्तक में ही नगेन्द्रजी ने अपने परवर्ती परिपक्व स्वल्प की सम्यक भाँकी बेन में सफलता पाई थी। शुक्लजी ने प्रारंभ में छायावाद को काव्योत्तर काल पर आधारित मानकर जो उपेक्षा दी और अपने जीवन के अंतिम दिनों में उसकी महत्ता स्वीकार करते हुए भी उस केषस एक अमिनब सती की ही जो प्रतिष्ठा दी उसके कारण आलोचना के क्षेत्र में एक रिविज या गई थी। छायावाद के प्रसंसकों की यों कोई कमी न थी और छायावादी कृतिक से संबंधित स्फुट समीक्षाएँ भी निरन्तर प्रकाशित होती रहती थीं पर उसने एक प्रसंसक कवि के समग्र कृतिक का व्यवस्थित विवेचन अभी तक न हुआ था। श्री शान्ति प्रिय द्विवेदी और प्राचार्य नन्दबुझारे पात्रपेयी जैसे प्रसंसक और समर्थक तो उसे प्राप्त हो गए थे पर एक अध्ययनसायी तटस्थ आलोचक का अभाव नगेन्द्रजी ने ही पूरा किया।

'मुमिबानन्दन पत्र' के प्रकाशन का समय मोटेतौर पर हिन्दी में प्रगतिशील आन्दोलन के उदय का समय है। छायावाद उस समय इमान पर था और बेध-बिधेध की उमम-शुभल से घिरकर साहित्यकार राजनीति के निकट जा रहा था। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया साहित्य और राजनीति का यह गठ-बंधन मजबूत होता गया यहाँ तक कि प्रगतिशील आन्दोलन एक दम-बिधेध का पर्याय बन गया और उसकी प्रतिक्रिया के रूप में पहले प्रयागवाद और फिर नई कविता का युग आया। पश्चोत्तर बर्ष की इस छोटी-सी अवधि में जब हिन्दी कविता निरन्तर अपना रूप-रंग बनाकर नई और विभिन्न होती जा रही थी तो वह नगरी का आलोचक बिलकुल विपरीत दिशा में अग्रसर हो रहा था। पत्र में मैथिलीशरण फिर बेध और रीतिगत और फिर प्राचीन काव्य-शास्त्र आलोचक नगेन्द्र की यह यात्रा जितनी विभिन्न सगती है उतनी ही महत्वपूर्ण है। जब 'अध्ययन आलोचक तात्कालिक प्रश्नों का तात्कालिक समाधान देना रहे' व और काव्य के बहिर्गम को लेकर मापापक्षी करते रहते-दिन एक कर रहे थे तब नगरी काव्य की आत्मा के आविष्कार में उसके मूल स्रोतों की खोज में मिला कवियों और पठिता का अनुशीलन कर रहे थे एवं काव्य के अरथ

स्वरूप के दान के लिए ध्याकुल थे। उनकी इस यात्रा में मेरे समान अन्य अनेक विद्यार्थियों-नेतृकों को इन भ्रम में डाल दिया कि वे सतक गए। जबकि सत्य यह है कि वे उस परंपरा को आगे बढ़ाकर परिष्कार करने के प्रयत्न में अतर्कित सगे हुए थे जो स्वर्गीय रामभद्र शुक्ल ने अमार्ग की धीर जिदके बिना प्राधुनिक साहित्यिक आलोचना अपनी सच्ची भूमि नहीं पा सकती। श्री विद्यालालसिंह चौहान से उनकी जिस बहस की अपनी मैं अंतर कर चुका हूँ वह शक्ति स्याम न था। आज मैं पूरी नीर पर अनुभव कर रहा हूँ कि मनेन्द्रजी ने अपने विकास की एक विद्या निर्धारित कर ली थी और तब से आज तक वे निष्कम्प इमों से उसी पर बसते आ रहे हैं। अपने उद्देश्य के प्रति जो एकान्त निष्ठा और अतर्क कर्म के प्रति जो तन्मय मनोयोग मनेन्द्रजी ने प्रदर्शित किया है उसीका यह फल है कि मनेन्द्रजी आज हिन्दी के मूर्धन्य आलोचकों में हैं और वे प्रतिदिन उन सत्य के निकट पहुंच रहे हैं जो समग्र भारतीय साहित्य के मूल में बसा हुआ है। प्राधुनिक साहित्य के प्रति उनके दृष्टिकोण से बहुतों को अंतर्गत हो सकता है (क्याकि उनके प्रति उनका बड़ी दृष्टिकोण है जो पुस्तकी का आभास के प्रति था) पर इसका कारण न तो यह है कि वे प्राधुनिक जीवन की समस्याओं से अज्ञान नहीं हैं और न यह कि वे नई अविष्कृत को सहानुभूति नहीं दे पाते। समझा एकमात्र कारण यह है कि मनेन्द्रजी ने अपनी स्वयं अज्ञान अज्ञान नहीं पाया है और समग्र साहित्य की उपलब्धि की तुलना में उनकी उपलब्धि अभी महत्वपूर्ण नहीं बन सकी है। तिसपर वर्तमान का अपनी सहानुभूति देकर अपने कर्तव्य की इति-श्री मान निमज्जित आभास के प्रयत्न की व्यर्थता भी किमने छिपी है। साहित्य को परंपरा में जोड़ने के लिए परंपरा का ज्ञान और मूर्त्यांकन प्राथमिक महत्व रखता है। मनेन्द्रजी तो जो कार्य अपने विद्यमान पश्चिमियों के जीवन में मनेन्द्रजी न किया है वह पहले ही हो जाता आश्रित था। यदि ऐसा होता तो आज का साहित्य भी अष्टांतर होता और उसका मूर्त्यांकन भी अनेकानेक सृजना जाता। पर अतर्क एतिहासिक कारणों से ऐसा न हो सका और आलोचना एवं साहित्य-रचना के बीच का गार्ड न पट गयी। पर अब मनेन्द्रजी ने जो आचार मूल कार्य मंगल्य कर लिया है उसमें यह आशा अपनी है कि आलोचना हीम्र ही प्राधुनिकताम साहित्य में मनेन्द्रजी स्थापित कर सकती। इन आदर्शरचना के प्रति स्वयं मनेन्द्रजी भी अज्ञान हैं और यही कारण है कि वे प्राधान्य भारतीय आभ्यास के अध्ययन के माध्यम-माध्यम आभ्यास का भी सम्यक अध्ययन प्रयुक्त करने रहे हैं क्योंकि मनेन्द्रजी साहित्य पर आभ्यास का जो अतिवाच्य प्रभाव है उसका नहीं मूर्त्यांकन इनके बिना नहीं हो सकता। माध्यम ही विद्वान्-साहित्य के मूल तत्वों का विवेचन और समन्वय भी अभी अज्ञान है।

सकेगा। निरवयव हा नयेन्द्रजी का ध्यान इस धार भी समा हुआ है और उन्हीके पहले कब्र के रूप में वे विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं के साहित्यों की प्राथमिक एकता के अनुसम्भान और प्रत्यय पर बल देने रहे हैं। ऊपरी विविधता के मूल में घंतरण एकाता की यह खोज साहित्यिक सत्य की प्रतीति की सही दिशा है।

[३]

घपनी पश्चीम बर्ष की अनवरत साहित्य-साधना से डा० गन्द्र ने हिन्दी साहित्य को जो दान दिया है और उसकी उपसर्गि में जा योग दिया है उसकी एक भ्रंकी प्रस्तुत निर्बंध-संग्रह में मिलगी। समय-समय पर उनके लिखे और सम्पादित जो ग्रन्थ अब तक प्रकाशित हुए हैं उनकी संख्या पश्चीम में ऊपर है उनमें से प्रायः सभीने आलोचना के किमी न किमी महत्त्वपूर्ण पत्र की पूर्ति का काम किया है और आलोचना के मान और स्वरूप को निर्धारित करने में सहायता की है। अत्रिन्वित अक्षयन के कमन्डरूप से आलोचना-ग्रन्थ एक-दूसरे के पूरक बन गए हैं और घपनी समग्रता में वे बहुमूल्य उपसर्गि हैं। उनके द्वारा डा० नयेन्द्र ने पाश्चात्य और भारतीय काव्य-सिद्धान्तों का मूलम अक्षयन प्रस्तुत कर उनके समन्वय का मार्ग उभुक्त किया है छायावाद और राष्ट्रीय आचरण के काम श्रु के हिन्दी साहित्य का नवीन और अधिक सम्पूर्ण मूल्यांकन प्रस्तुत किया है और पहली बार हिन्दी आलोचना में ग्रन्थ भारतीय साहित्यों के तुलनात्मक अक्षयन और पारस्परिकता की चेतना का समावेश किया है। 'भारतीय साहित्य की मूलमूल एकता' नामक अपने निर्बंध में इस चेतना का स्वर देते हुए वे कहते हैं—'किमी भी प्रवृत्ति का अक्षयन केवल एक मापा के साहित्य तक ही सीमित नहीं रहना चाहिए—वास्तव में इस प्रकार का अक्षयन अत्यंत अपूर्ण रहेगा। उदाहरण के लिए मधुरा भक्ति का अक्षयता यदि घपनी परिधि का कबल हिन्दी या बंगला तक हा सीमित करने का वह सत्य की घोष में असफल रहेगा—उसे घपनी भाषा के अतिरिक्त अन्य भाषाओं में प्रकाशित मधुरा भक्ति की धारा में प्रकाशित करना होगा—गुजराती उड़िया अक्षयिता तमिल तेलुगु, कन्नड़ और मययासम सभीकी ता भूमि मधुर रस से आम्ना बिन है। एक भाषा तक सीमित अक्षयन में स्पष्ट घनेक छिद्र रह जाएंगे। हिन्दी साहित्य के इतिहासकार को जा घनेक घटनाएँ सांयोगिक-भी प्रतीत हानी हैं वे वास्तव में ऐसी नहीं हैं। आचार्य शुक्ल को हिन्दी के त्रिय विद्याल पीठ साहित्य की परम्परा का मूल शोध प्राप्त करने में बटिगाई हुई थी। वह अक्षयन के अतिरिक्त उड़िया की भाषाओं में और बंगला में सहज ही मिल जाता है। इस अक्षय साहित्यिक साध-प्रणामी के द्वारा घनेक न्युन उड़िया अक्षयता ही मिल जाएगी—अणुवित जिज्ञासाओं का सहज समाधान हा आम्ना

घासाचना की मज्जी प्रगति डा० मनेन्द्र क हो द्वारा हुई है और क मुक्तजी की परम्परा का बिलार कर हिन्दी की घासाचना को नई उपसम्भियों के गौरव मितर की धार ल जा रहे हैं ।

[४]

एक घासाचक की रचनाए हान क बारण प्रस्तुत मप्रह क समयग सभी निबंध घासाचना साहित्य की निधि हैं । छिर भी प्रकार म म उन्हें पाँच तहों में बाँट दिया गया है । पहल लण्ड म साहित्य-शास्त्र क मिदान्तों की चर्चा और मूल्यांकन है । इम लण्ड क कुछ महत्त्वपूर्ण निबंध का उन्नत हम धर्मो कर घाए हैं । उनक अनिरिक्त साहित्य म धारमामिम्बिक निबंध की घाए हम पात्रों का ध्यान बिधाय रूप में धारकपित करना चाहत हैं । बिम युग म घामाचक नगम्त्र ने धपना मूबन-काय धारम्भ किया था उस युग ने प्रमनिषीस धान्दोसन के प्रभाव म साहित्य धपिवाधित निर्बन्धिक और कइ हाता जा रहा था उमम स रचमिषा का धारम प्रकाश भटन मग गया था । उनी पृष्ठ-भूमि म सिधा गया यह निबंध साहित्य की मूम प्ररुषा का पुनराध्यान कर सही मूयों का स्वापना का एक मवल प्रयान है । जब राजनीतिक मतवाणों क प्रचार प्रसार को ही साहित्य का मूम धर्म बनाम की चेला की जा रही थी तब डा० मनेन्द्र म बिम निर्भीकता स धर्ह का मस्कार और परिष्कृत धातव्य की उपसम्भि के इम उमयपत्री मिदान का प्रतिपादन कर तत्कामीन यश-मुबार को दूर करन म महायता पहुचार्ई है । उम्हान निर्दंष्ट्र पापणा की थी कि " ब्यक्तित्व की महता धर्यान् उमका बिलार और मामीय जीवन क महतर मूयों क माय तादात्म्य करने मे प्राप्त हात है और य महतर मूय धर्म म बहुत कुछ समप्लित मूय ही होंगे यह थीक है । परन्तु इसका निगम म्युन हृष्टि मे बाध (मामाजिक और राजनीतिक) धान्वामना का मामन रतकर मही करना होगा बरम् स्वापक और मूयम बरातल पर वषा और काम की सीमाधों का ताइकर बहनी हुँ धलण्ड मानव धतना क प्रकाश में हो करना हाया । प्रत्येक युग और देग धपनी समम्बाधों में लोया हुआ म माय का निरस्धार कर सामयिक धाबधयताधों के धनुसा म साहित्य पर धपकचर निरुंय दता रहा है परन्तु इतिहास मासी है कि ये निगम धम्पाया हा रहे हैं । माम पिक धाबधयताग पूरा हा जान पर उम धलण्ड मानव-धेतना म तुयन्त ही धपनी धािक का परिधम िया है और उन निगुयों में उचिध म्पापन कर दिया है । निघन्ति धौर निमम हृष्टि के बिना कथन म एमी हइना संभव म्हा हानी ।

दुमने लण्ड म तीन निबंध हैं जा भारतीय साहित्य क कुछ पनों क निबधन क अनिरिक्त स्वतन्त्र भारत म हिन्दी साहित्य की प्रगति का सधा-जोया प्रस्तुत

धीरे-धीरे भारतीय चिन्ताधारा एवं रागात्मक चेतना की प्रकृष्ट एकता का प्रवृत्त हो सकेगा। निश्चय ही भारतीय साहित्य का ऐसा सम्यक धीरे-धीरे समग्र अध्ययन हमारे हाथ धीरे-धीरे प्राप्त के लिए अत्यन्त आवश्यक है। यह बड़ा शुभ संकेत है कि यह कार्य हिन्दी के द्वारा सम्पन्न किया जा रहा है। हिन्दी भाषाभाषता को इस नये अध्ययन तक पहुँचाने के लिए डा० मनेन्द्र हम सब की बधाई के पात्र हैं।

इसी प्रकार आज के परिप्रेक्ष्य में प्राचीन भारतीय काव्य-शास्त्र का पुनराख्यान धीरे-धीरे विवेचन एवं पाश्चात्य काव्य-सिद्धांतों से उसकी तुलना में अपने गंभीर मन द्वारा डा० मनेन्द्र ने एक अर्थ विज्ञान में समन्वय का मार्ग खोला दिया है। उन्होंने बड़े-बड़े धीरे-धीरे मनोयोग से विभिन्न काव्य-सिद्धांतों के मूल-तत्त्व को समझने का प्रयास किया है और प्रत्येक के गुण-दोषों का पूरा विवेचन किया है। यह कितना कठिन कार्य है इसे कहने की आवश्यकता नहीं। साथ ही उनके अध्ययन में बाधित तटस्थता और विवेक का ध्यान रखकर डा० मनेन्द्र ने पहली बार हमें उनके अपने स्वयं से प्रभावित करवाया है। विसपर भी जहाँ उन्हें भारतीय सिद्धांत पाश्चात्य सिद्धांतों से अधिक सम्पूर्ण अथवा अधिक उपयुक्त दीखे हैं वहाँ अपने अक्षय्य में उन्होंने बड़ी हठता से कार्य किया है। सत्य की शोभ में उन्होंने न तो कोई-कुरियावट की है न किसी प्रकार की बुझा या हिचक को प्रभय दिया है। प्रस्तुत ग्रंथ में प्रथम अक्षर के निबन्धों का पाठ करके से पाठक सहज ही इस कृपा की सत्यता और महत्त्व को परख सकता है।

इनके प्रतिरिक्त डा० मनेन्द्र ने हिन्दी भाषाभाषता को एक तीसरी विधा में भी प्रवेश किया है। यह है अनुसन्धान अथवा शोध की विधा। भाषाभाषक और अनुसन्धाता के कार्य क्षेत्रों का निर्धारण अनुसन्धान के अर्थ और उप-कारणों का निर्धारण एवं अनुसन्धान की प्रक्रिया—इन सभी पक्षों पर डा० मनेन्द्र ने गंभीर चिन्तनकर अपने निबन्ध 'अनुसन्धान और भाषाभाषता' में अनुसन्धान का एक पूरा शास्त्र ही विकसित किया है। गंभीरता और मीलिकता की दृष्टि से यह निबन्ध कितना महत्त्वपूर्ण है उतना ही सामयिकता और उपयुक्तता की दृष्टि से भी। आज जब हिन्दी में अनुसन्धान की बाढ़-सी भा गई है और जोरे-तप्य-सकसत का अनुसन्धान की गरिमा से विभ्रमित करने की जो आमक प्रवृत्ति बस पकड़ती जा रही है उसको दबते हुए मनेन्द्रजी का यह निबन्ध अनुसन्धाताओं के लिए धनबुद्धे दीपस्तंभ का काम करता है। इस निबन्ध में प्रसंगपर भाषाभाषक के सत्य रूप का जिस शोधपूर्ण स्पष्टता से आख्यान हुआ है, वह भी प्रशंसनीय है।

इन तीनों विधाओं में डा० मनेन्द्र ने जो कार्य किया है, उसके बस पर हमें यह कहने में ठीक ही हिचक नहीं कि रामचन्द्र शुक्ल के बाद हिन्दी

धामोचना की सच्ची प्रगति डा० गणेश ने ही द्वारा हुई है और वे सुस्सजी की परम्परा का विस्तार कर हिन्दी की धामोचना को नई उपसर्गियों के गौरव विस्तार की ओर से जा रहे हैं।

[४]

एक धामोचक की रचनाएं होने के कारण प्रस्तुत समूह के मगमग सभी निबन्ध धामोचना साहित्य की निधि हैं। फिर भी प्रकार भेद से उन्हें पांच खंडों में बाँट दिया गया है। पहले खण्ड में साहित्य-शास्त्र के सिद्धान्तों की चर्चा और मूल्यांकन है। इस खण्ड के कुछ महत्त्वपूर्ण निबन्धों का उल्लेख हम अभी कर आए हैं। उनके प्रतिरिक्त साहित्य में धारमाभिप्यति निबन्ध की ओर हम पाठकों का ध्यान विशेष रूप से धारकपित करना चाहते हैं। जिस युग में धामोचक गणेश ने अपना सुजन्म-काय धारम्भ किया था उस युग में प्रगतिशील धामोचन के प्रभाव से साहित्य अधिकाधिक निर्दोषिक और स्व-होता जा रहा था उसमें से रचयिता का धारम प्रभाव घटने लग गया था। उसी पृष्ठ-भूमि में सिराया गया यह निबन्ध साहित्य की मूल प्रेरणा का पुनराख्यान कर सही मूर्तियों की स्थापना का एक उत्तम प्रयत्न है। जब राजनीतिक मतबाहों के प्रचार प्रसार को ही साहित्य का मूल धर्म बनाने की चेष्टा की जा रही थी तब डा० गणेश ने जिस निर्भीकता से यह वास्तविक और परिष्कृत धारम की उपसर्ग के इस उभयपक्षी सिद्धान्त का प्रतिपादन कर तत्कालीन गर्द-गुबार को दूर करने में सहायता पहुँचाई है। उन्होंने निश्चय बोधना की थी कि “ व्यक्तिगत की महत्ता धारम के विस्तार और गामोय जीवन के महत्तर मूर्तियों के मातृ तादात्म्य करने से प्राप्त होती है और ये महत्तर मूर्तियाँ धारम में बहुत कुछ समष्टियुक्त मूर्तियाँ ही होंगी यह ठीक है। परन्तु इसका निष्पन्न स्पष्ट दृष्टि में बाह्य (सामाजिक और राजनीतिक) धारमधरता का समन स्वर नहीं करना होगा बरन् धारम और मूलम धरानस पर देना और नाम की सीमाओं को तोड़कर बहुरी हूँ धारम मानव-जन्तु के प्रकार में ही करना होगा। प्रत्येक युग और दस धरनी समस्यारो में सोया हुआ इन सत्य का विस्तार कर सामयिक धारमधरताओं के अनुसार साहित्य पर धारमधर निर्णय देना रहा है परन्तु इतिहास माधो है कि ये निर्णय धरमायी हो रहे हैं। सामयिक धारमधरताएँ पूरी हो जाने पर उस धरम मानव-जन्तु ने तुरन्त ही धरनी पालि का परिचय दिया है और उन निष्पत्तियों में उचित मर्यापन कर दिया है। निष्पत्ति और निर्णय दृष्टि के बिना धरम में एसी दृष्टि संभव नहीं होती।

दूसरे खण्ड में तीन निबन्ध हैं जो भारतीय साहित्य के कुछ पक्षों के विशेषतः प्रतिरिक्त स्वतंत्र भारत में हिन्दी साहित्य की प्रगति का सचा-बोधा प्रस्तुत

करते हैं। 'स्वतंत्रता के पश्चात् हिन्दी साहित्य' शीघ्र निबन्ध अपनी स्पष्टता और समुपन के लिए विशेष रूप से दृष्टव्य है। राजभाषा के रूप में हिन्दी की प्रावश्यकताएं क्या हैं उनकी पूर्ति की सही दिशा कौन-सी है और किन पक्षों में जाकर उसके मटक जाने की संभावना है यह इस निबन्ध में संक्षेप और गहराई-से व्यक्त किया गया है। प्रामोदक नरेन्द्र के सभी गुण इस निबन्ध में एकत्र मिलते हैं। विषय को समग्रता में देखने का मकसद इस प्रकार की प्रतिरचना और प्रतिव्यक्ति से बचने की सावधानी स्पष्टता दृढ़ता और तटस्थ मूर्त्याकन—इन सबका प्रभाव यह निबन्ध है। हिन्दी के विकास को राजनीतिक बलबल में बसीटन का जो प्रयत्न किया गया है उसकी घोर संकेत करते हुए डा० नरेन्द्र लिखते हैं "भारत की राजभाषा होठ ही हिन्दी भाषा के प्रबल ने बनायास ही सर्वथा नवीन रूप धारण कर लिया। एक तो इसका शुद्ध राजनीतिक पहलू है जिससे अनेक महारथी बूझ गए और धात्र भी बूझ रहे हैं। हमारे मन में उनके प्रति बही मयमिभित धारर है जो सामान्य बुद्धिजीवी व्यक्तिक का मोड़ा के प्रति हो सकता है। वे हमारे नमस्य है। सैन्धी की यह प्रचरता ठेकमुक्त होते हुए भी न्यामपूर्ण है। इसी प्रकार गांधी-विषयक उत्कृष्ट काव्य का हिन्दी में अभाव देखकर उन्हें जो निष्कर्ष दिया है वह वैसा संतुमित है वैसा ही सही भी है। "गांधी के महानिर्वाण से सम्बद्ध काव्य में इसी लिए अपेक्षित ज्वात रस का संचार नहीं हो सका क्योंकि उसका भाव अभी तक हरा है और धात्र के कवि के लिए बिसने कि उसको प्रत्यक्ष रूप से सहा है अभी वह संस्कार नहीं बन पाया—संभव है क्यों तक बन भी न पाए। इस लिए गांधी महाकाव्य कदाचित् कुछ समय बाद ही लिखा जा सकेगा बरकि गांधी के जीवन-मरण से सम्बद्ध इगारै मुगानुभूति प्रकृत अनुभूति न रक्कर संस्कार बन आएगी। इस कथन न निहित जो मूलमूल तत्व है उसकी प्रतीति करने पर हम प्राबुनिक काव्य की अनेक रचनाओं की असफलता का कारण जान सकते हैं।

इसी सन्दर्भ में एक और निबन्ध है—'भारतीय साहित्य पर रबीन्द्रनाथ का प्रभाव'। सामयिक होने के प्रतिरिक्त यह निबन्ध हिन्दी प्रामोचना के लिए अभिनव यापदान है क्योंकि ऐसे सम्बद्ध और सम्पूर्ण रूप में इस विषय को पहले कभी नहीं उठाया गया। हमें इस निबन्ध में सर्वाधिक प्रथमनीय बात यह मयती है कि निडान लेखक ने रबीन्द्रनाथ की महत्ता को प्राणपण से स्वीकार करते हुए भी अन्ध इतिकारों की प्रतिभा का बराबर ध्यान रखा है, और इस बात की सावधानी बरती है कि कहीं भी कथन में प्रतिघयोक्ति न धा जाए। बाल्य में सच्ची प्रामोचना का वह धनिधार्ब मुण है। किसी भी महा-पुस्तक की देन को स्वीकार करने न हय इतने धने न हो जाए कि अन्य रच

विचारों को उनका प्राप्य देना भूल जाएं। रबीन्द्र-रायबापिकी के अक्षर पर
 वेग में जो अतिरंजना का निर्बोध आधुनिक मुनाई पड़ा। उसमें प्रभावित
 रहकर मनुमन का एगो मधेष्ट प्रयास बिलक्षण-निष्ठ और शक्ति का
 उदाहरण है।

तीसरे अष्टक का निबंध है हिन्दी के दो आधुनिक काव्य-शास्त्रों पर।
 इनमें 'छायावाद' पर निबंध जिस पनी हृष्टि और सहानुभूति का परिचायक
 है उसका वर्णन 'प्रयोगवाद' में कम होने हैं। डा० मनेन्द्र ने प्रयोगवादीन परि-
 स्थिति का विवेचन तो यथेष्ट गहराई में किया है पर उसकी सफलता-असफलता
 पर उन्होंने जो विचार व्यक्त किए हैं उनसे हम सहमत नहीं हो पाते। छायावाद
 के मूल्यांकन में स्वर्गीय दुखल ने जो एकगिता लिखाई थी उस मूल्यांकन में भी
 कुछ-कुछ बंधा ही आभास होता है। जिस प्रकार दुखलजी ने छायावाद का
 मात्र एक ही भाग माना था उसी प्रकार डा० मनेन्द्र भी प्रयोगवाद की धमी पर
 ही विषय बस दे रहे हैं। हमारा विद्वान है कि कामान्तर में डा० मनेन्द्र अपने
 इन विचारों में परिवर्तन करेंगे।

चौथे अष्टक का प्रतिपाद्य है कामायनी। कामायनी छायावाद का तो
 सर्वोत्कृष्ट काव्य है ही। वह आधुनिक हिन्दी का भी सबसे महान संघ है। यही
 कारण है कि उसका विवेचन में आलोचक स्वयं भी बड़ी उदात्त भूमि पर पहुंच
 जाता है। य दो निबंध कामायनी को उपलक्ष्य को उजागर करने में तो सर्वथा
 समर्थ हैं ही वे डा० मनेन्द्र की भी विशिष्ट उपलक्ष्य हैं। मनन की गहराई,
 धैर्य की गंभीरता विषयानुरूप भाषा और अभिव्यक्तियुक्त मयम इन निबंधों
 को उज्ज्वल बनाते हैं। कामायनी की अष्टका को प्रमाणित करने के लिए य
 दो निबंध जो वाप करते हैं वह बड़े-बड़े संघों में भी मर्मक नहीं।

पंचम अष्टक का निबंध विगुड आत्मचरितमक निबंध न होकर व्यक्ति-चरक
 निबंध है। यद्यपि पहले दो निबंधों में लेखक का आलोचक-रूप भी पूर्णत
 मुगलित है फिर भी उनमें व्यक्ति मनेन्द्र का उष्ण स्पष्ट भी हम पाते हैं। केवल
 पंचम निबंध विगुड संस्मरण है और एक एक अनाथे व्यक्तित्व के प्रति भाव
 मयो अक्षय्य है जो बहुत कम देखा जाता है। इन निबंधों का हम संग्रह में
 स्थान लिए बिना मनेन्द्रजी के पूरे व्यक्तित्व के साथ ग्याय जाना मर्मक नहीं था
 क्योंकि इनमें जो भारतीयता हमें मिलती है वह अपने विषय के कारण अन्य
 निबंधों में नहीं मिलती। स्पष्टता मनुमन और निर्भीकता जो मनेन्द्रजी के
 विशिष्ट गुण हैं यहां भी पूरे रूप में विद्यमान हैं पर इन सबके साथ आत्म
 परिचय को एक कोमलता इन निबंधों का आलोचना से अधिक रचनात्मक बना
 देती है। यों मनेन्द्रजी के मन में आलोचक भी रचयिता होता है और हम
 उनसे पूर्णत सहमत हैं पर इन निबंधों में मुझ उस छोटे हुए कवि-रूप के पुन

रच्यं होते हैं जिसकी कल्पना एक युग पहले मेरे मन ने की थी।

इतना होने पर भी इन तीनों निर्बंधों में भी मयेष्ट प्रकार भेद है। 'मेरा व्यवसाय और साहित्य-सृजन' यदि धारम-व्यात्मक है, तो कहानी और रेखा चित्र' चर्चा-संकलन है और 'बाबा' स्वर्गीय बामहृदय 'सर्मा मनीम' विद्युत् संस्मरण-आत्मक विषय-मत्त भेद के कारण तीनों की शैलियों में जो भेद है वह इतना अनिर्धार्य है कि यह कहना असंभव न होगी कि उनके साथ अन्य किसी प्रकार से म्याम नहीं हो सकता था। इन निबंधों में हमें एक प्रसन्न प्रवाह के साथ-साथ घटनाओं कथापकथनों और मुद्राकथनों के भी पुट मिलते हैं। अपने धामोचनात्मक निर्बंधों में विषय के प्रति सतुसन बनाने के लिए लगेन्द्रजी जिस तटस्थता का प्रयोग करते हैं उससे इन निबंधों का निर्वर्तन प्रफुल्ल विस्मय प्रदान करता है। इसीलिए इन निबंधों की माया भी अपेक्षाकृत हलकी और कल-कलमयी हो जाती है। कामायनी-संबन्धी निबंधों के सहानुभूत प्रवाह से इन सहूरियों की तुलना कर पाठक स्वयं ही इस मर्म को ग्रहण कर सकता है।

[५]

साहित्य के मूल्यांकन और हिन्दी धामोचना के विकास के क्षेत्र में डा नगन्ध ने जो योग दिया है उसके प्रतिनिधि होने के नाते तो ये निबन्ध महत्त्व पूर्ण और सप्रहृलीय हैं ही निबन्ध-कला की दृष्टि से भी ये कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। अपने विचारों-काम से प्रारम्भ कर धाम तक डा लगेन्द्र निरन्तर निबन्ध को अपने विचारों और मार्गों की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाते आए हैं, और उनकी कला में निरन्तर प्रीति और निष्कार धाता गया है। यद्यपि प्रारम्भिक निबन्ध अपेक्षाकृत उपले और सीमित हैं और बाद के निबन्ध अपेक्षाकृत अधिक सहुरे एवं व्यापक फिर भी यह दृष्ट्य है कि प्रत्येक निबन्ध में डा लगेन्द्र के व्यक्तित्व की धाक धाप है और उन सबों में समाहित मूल सूत्र एक ही है। प्रतिक्रिय निबन्ध-लेखक निबन्ध-रचना को सरल समझकर उसके रूप और प्रकार पर विषय ध्यान नहीं दते पर लगेन्द्रजी के साथ यह बात नहीं है। वे निबन्ध-रचना में इतनी ही सावधानी और धम बरतते हैं जितना एक कुशल कवि अपनी कविता की रचना में। कुछ दिन पहले की बात है, उनके एक निर्बंध को पढ़कर मैंने उसमें एक विषय प्रसंग में कुछ परिवर्तन करने का सुझाव दिया था। उसके उत्तर में उन्होंने जो कुछ कहा वह यद्यपि मेरे लिए अप्रत्यासित था पर उससे उनके चिर-आगस्क कमाकार का परिचय मिलता है। उन्होंने कहा कि निबन्ध में किसी बाहरी धामपकतापथ कोई परिवर्तन करना के सह नहीं सकते। धर्मात् सम्पूर्ण निबन्ध एक कलासृष्टि है उसका धारि-मध्य-मत्त धारम्य सावधानीपूर्वक प्रकल्पित और प्रलीत है उसमें धम धेड़-धाड़ उसके स्वरूप को बिगाड़ देती। उनका यह उत्तर सुनकर मैं मन ही मन नक्षप हो

गया था क्योंकि उसने उनकी सावधानी और हड़ता का पता चलता है। यही कारण है कि ये निबन्ध आलोचना-परक होते हुए भी कसबतमक कृतियाँ हैं। उनमें प्रत्येक शब्द अपनी अनिर्धार्यता से उपस्थित है न कहीं प्रभावशून्यक विस्तार है, न उलझन। निबन्धकार ने अपने कथ्य को पूरे मन के उपरान्त रचना का रूप दिया है उसकी उठान उसका विश्वास और उसकी परिणति कलाकार के संयम से विहित है। उनके निबन्धों का यह कसाब और यह सर्वापता डा० नगेन्द्र की निबन्ध-कला की प्रमुख विशेषता है।

डा० नगेन्द्र के निबन्धों की दूसरी विशेषता है उनकी स्पष्टिक-तुल्य पारक्षिता एवं तर्क-मग्न विचार-गुणन। अपनी धारणाओं की स्थापना में वे पक्ष धर नहीं बनते। प्रत्येक शब्द के सभी पहलुओं पर सम्पूर्ण धर्म से विचार करते हैं और जो निष्कर्ष तर्क एवं विवेक द्वारा पृष्ठ न हो सके उसे मात्र धारणा या भावोद्भवास से प्रतिष्ठित करने की श्रुति नहीं करते। इस एक गुण में मैं उन्हें शुक्लजी से भी बड़ा निबन्धकार मानता हूँ। कतिपय आलोचकों ने डा० नगेन्द्र का लीला, क्रोध, हर्षास्मास आदि प्रकट न करते देखकर निराशा व्यक्त की है पर मैं इनके प्रभाव को सच्चे आलोचक का गुण मानता हूँ। हाँ जिन निबन्धों का स्वर वैयक्तिक है उनमें इस प्रकार के भावोद्गारों का प्रभाव नहीं है उनका बाहुल्य तो नगेन्द्रजी जैसे ही क्यों। इसी गुण के अनुपम रूप में एक और गुण इन निबन्धों में विद्यमान है—निबन्धकार का संतुलन। इसका प्रत्यक्ष सुन्दर उदाहरण है 'अनुसन्धान और आलोचना' जिसमें साहित्य की इन दोनों विधाओं के महत्त्व का तुलनात्मक विवेचन करते हुए लेखक ने ऐसे विनम्रानुसन्धान से काम लिया है जिसे 'समय की धार में धावनो' कह सकते हैं। सगता है कि लेखक तनिक-भी भी उगमगाहट से संतुलन या र्थिता पर उसकी सावधानी के कारण ऐसा कहीं भी नहीं हुआ। इसमें संदेह नहीं कि ये निबन्ध प्रत्यन्त उच्चकोटि की निबन्धकला के प्रमाण हैं और उनका स्वरूप उनका रूपरस, उनकी श्रंगिता सब प्रतिपाद्य के अनुपम उदाहरण हैं। उदाहरण के लिए कहना और रेखाचित्र नामा निबन्ध से सीजिए। कहानी और रेखाचित्र दो विधाएँ हैं या एक ही के दो प्रकार, और दो हैं तो उनमें अन्तर क्या है इसका विवेचन लेखक ने एक गोपनी की कायबाहो के अक्षर के माध्यम से किया है। हमारा निदेष्य है कि प्रायः किसी रूप में कहानी और रेखाचित्र के माध्यम और अन्त को अपनी मूर्धनता में उपस्थित करना बर्जित होता।

अन्त में एक दृष्टि भाषा के सम्बन्ध में। डा० नगेन्द्र की भाषा को हम संतुलन-शक्ति कह सकते हैं। निदेष्य ही साधारण पाठन जिन भाषा की घोषा रगता है उसमें यह बर्जित है। पर उपपन्न और आभाषना की भाषा एक कभी नहीं हो सकती। फिर भाषा का साहित्य अधिनतर पारिभाषिक

शब्दों का ही है समझता मैं भाषा इतनी स्पष्ट और निश्चरी हुई है कि उसमें ससम्भ्रम अथवा अस्पष्टता का शेष भी नहीं। और जहाँ तक पारिभाषिक शब्दावली का प्रश्न है, मैं समझता हूँ कि बिलकुल नये शब्दों का निर्माण डा. नरेन्द्र ने किया है उतना घाब के धीरे किसी भाषाज्ञानक ने नहीं। यद्यपि डा० नरेन्द्र ने कहीं-कहीं अप्रैची की पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग किया है, पर वहीं जहाँ स्पष्टता के लिए यह आवश्यक लगी है। अन्यथा उन्होंने प्रामाण्य सभी अप्रैची शब्दों के सटीक और समानार्थी पर्याय हमें दिए हैं।

—सत्यादर

कविता क्या है ?

कविता क्या है ? यह एक अद्वितीय प्रश्न है। अनेक आलोचक यह मानते हैं कि कविता की परिभाषा और स्वरूप-विवेचन सम्भव नहीं है। परन्तु मेरा मन इतनी जल्दी हार मानने को तैयार नहीं है। यो तो जीवन के सभी मूल्य और गहन सत्य सरलता से परिभाषा का बंधन स्वीकार नहीं करता फिर भी जिसकी अनुसूति हो सकती है उतने विवेचन को मैं असम्भव नहीं मानता। प्रपञ्च बहु अर्थव्यय रहेगा। परन्तु अपूर्णता या भाषा की महत् परिमिता है वह तो किसी भी अनुभव की अभिव्यक्ति पर पटू सजती है। फिर कविता की परिभाषा के विषय में ही इतनी निराशा क्यों ?

मैं एक उदाहरण सचर हम प्रश्न का उत्तर देने का प्रयास करूँगा —

स्याम गौर किमि आये बतानी ।

गिरा अनमन नयन बिनु कानी ॥

गुनसी की यह अर्धांगी कविता का उत्कृष्ट उदाहरण है हममें संदेह नहीं हो सकता दाताश्रियों से महदय-अभाव इस कविता की प्रशंसा करता थाया है। आशय रामपाद ध्रुव हरिऔष आदि रामसे प्रगटा मुक्तकण्ठ से हमका यद्योमान कर चुके हैं।

राम और सरदाम के सौन्दर्य से प्रभावित भीता की मन्वी की यह महत् भाषाभिव्यक्ति है क्यासाम राम और गोरबण सरदाम के सौन्दर्य का वर्णन किस प्रकार सम्भव हो सकता है ? क्योंकि वर्णन की भाष्यम इन्द्रिय बाणी केनबिहीन है और सौन्दर्यराम के भाष्यम नेत्रों के बाणी नहीं है। अर्थात् केन उनके सौन्दर्य का आस्वाद तो कर सकते हैं किन्तु उनका वर्णन नहीं कर सकते और बाणी उन सौन्दर्य का वर्णन करने में तो समर्थ है किन्तु उनका आन्तरिक आस्वाद वह नहीं कर सकती। इसका मूलभाव है सौन्दर्य के प्रति प्रबल आन्तरिक आस्वाद—इत दासों में पुण्य के सौन्दर्य के प्रति जारी का महत् उद्युगी भाव व्यंजित है। इस उद्युगी भाव में आनना का वर्णन नहीं है अर्थात् अर्थव्यक्ति

इच्छा और उसकी पूर्ति के फलस्वरूप ऐन्द्रिय मानसिक सुख की मिष्टता का मिश्रण नहीं है। अतः यहाँ सांत्विक सौन्दर्य चेतना की व्यञ्जना है। शौचिष्य की दृष्टि से यह व्यञ्जना सर्वथा स्तुर्य है। राम और सखण्य सभी परपुरुष हैं—कवि को योजना के अनुसार वे सीता और उमिमा क बरेष्य हैं। इस दृष्टि से सभी की भाव-व्यञ्जना में बाधना (वैयक्तिक इच्छा) का समावेश किसी प्रकार भी उचित नहीं था। कवि को तो यहाँ सीता के पूर्वराग का उद्दीपन ही धमीष्ट है। अतएव सभी की इस उक्ति में वह केवल विस्मय और उन्मास से युक्त तीव्र भावपूर्ण की ही व्यञ्जना करता है। कारण यह है कि प्रस्तुत सूक्ति में 'शौचिष्य' द्वारा अनुमोदित अर्थात् नैतिक मनोवैज्ञानिक दृष्टि से शुद्ध जीवन के अत्यन्त मधुर भाव किञ्चित् बय के भावपूर्ण की धमिष्यञ्जना है।

अब धमिष्यञ्जना की दृष्टि से परीक्षा कीजिए। प्रस्तुत प्रसंग में कवि का साध्य है—सौंदर्य द्वारा उत्पन्न प्रभाव का उपप्रेषण। सौंदर्य का प्रभाव मिश्रण ही एक अमूर्त तथा मिश्र प्रतिक्रिया है जिसमें रति उन्मास लीला आदि अनेक भावों का समावेश है। बकता की 'मुग्धा' अवस्था के कारण 'धमिष्यञ्जना' और भी बलित हो जाती है। अतः कवि ने बर्णन की चेष्टा ही नहीं की—'किमि वायं बहानी ?' के द्वारा अर्थात् बर्णन की असमर्थता की स्वीकृति के द्वारा सौन्दर्य की अनिर्बचनीयता की व्यञ्जना की है। यह अनिर्बचनीयता 'अतिसय' की ओतक है। किन्तु अनिर्बचनीय होते हुए भी वह अनुभावातीत नहीं है—वास्तव में बकता को उसकी अत्यन्त प्रबल अनुभूति हो रही है। अर्थात् यह सौन्दर्य इतनी तीव्र अनुभूति उत्पन्न करता है कि उसको व्यक्त करने के लिए शब्द नहीं है। इस प्रकार कवि सौंदर्य की सूक्ष्म किन्तु तीव्र अनुभूति का बर्णन न कर, बकता की असमर्थता द्वारा उसकी व्यञ्जना करता है। यह बर्णन की बलवती है जिसे कृतक ने 'संभूति-बकता' के नाम से धमिहित किया है। इससे अरण्य में असमर्थता का कारण दिया गया है—बाणी के भेद नहीं है और नेत्रों का बाणी नहीं है। अतःकार वास्तव में इसका नाम अर्थात् अरण्यास है। इस उक्ति में सखण्य का अमलकार है क्योंकि शरीर-हीन बाणी में मर्षों की और इसी प्रकार नेत्रों में बाक अक्षि की कल्पना सामान्यतः निराधार है। अतः सखण्य के आचार पर ही यह उक्ति सार्थक बनती है। इसके अतिरिक्त यहाँ प्रकल्पन विरोधाभास भी विद्यमान है—अत्यन्त रूप से यह अत्यन्त स्पष्ट तथ्य है किन्तु सखण्य का आचार इसमें तर्क की अक्षि उत्पन्न कर देता है। वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ के बीच यह विरोधाभास निश्चय ही अमलकार का कारण है।

इसी प्रकार आरम्भ के दोनों शब्दों—इयाम और गौर—में भी अमलकार विद्यमान है ध्वनिवादी जिसे पर्याय ध्वनि बकान्तिवादी विधेयण-बकता और अमलकारवादी किसी सखण्यमूलक अमलकार का नाम है अरुण है।

यह भाव सौंदर्य की दृष्टि से सीधिए । उद्धृत धर्मात्मी में अत्यन्त प्रसन्न परावसी का प्रयोग है जिसमें मूल्य बर्णमैत्री के भाव-सौंदर्य की कोमल धनु पूंज है—कवि ने पवर्ग और कवर्ग के बर्णों की प्राकृति और दूसरे अरण्य में 'न' की प्राकृति क द्वारा सहज बर्ण-सामन्वय पर प्राप्ति वाच्य-समीत का मुक्त किया है । उभर सधु मात्रिक पीपाई छन्द मुग्धा के मन की इस भाव तरंग का अत्यन्त उपमुक्त माध्यम है ।

यह प्रश्न यह है कि इनमें से किम तत्त्व का नाम कविता है ? मूल भाव धर्मात् सौंदर्य वेतना का ? उक्ति-बद्धता अथवा अर्थकार के अमत्कार का ? अथवा बर्णमैत्री का ? या फिर छन्द-संगीत का ? उत्तर भी कठिन नहीं है । मूल भाव कविता नहीं है—यहां अयोग स यह भाव मीन्दयानुभूति है सामान्यतः दुष्ट भी हा सकता है । किन्तु भाव-कविता नहीं है । जीवन में सब मनुष्य ही नहीं पशु-पक्षी भी भाव की अनुभूति करते हैं पर वह कविता ता नहीं कही जा सकती । न जाने कितन स्त्री-पुरुष और तिर्यक योनि में भी न जाने कितने मर-मान एक-दूसरे के जीवन-सौंदर्य न प्रति प्राकृष्ट होते हैं किन्तु इस प्राकृत्यंग को कविता ता नहीं कहा जा सकता ।

तो क्या उक्ति-बद्धता कविता है ? धर्मात् क्या सौंदर्य के इस अनुभव को विदग्ध रीति स अर्थ-बद्ध करना कविता है ? नहीं क्योंकि अपने निरयप्रति के व्यवहार में हम अपने प्राप्य को न जाने कितनी बार अनेक अर्थ अंगिमार्थों के द्वारा व्यक्त करते रहते हैं । वह तो कविता नहीं है । क्या अर्थकार का अमत्कार—'मयन' और 'बाग्यो का साक्षात्क प्रयोग अथवा वाच्यार्थ और मयवार्थ के बीच मूल्य विरोधाभास कविता है ? यहां अविषय वाच्य रमिष वक्त-वितक कर सकते हैं । किन्तु मेरा स्पष्ट मत है—'नहीं । क्योंकि वाच्यवाच में निरन्तर हम न जाने मुहाबरा के रूप में कितन साक्षात्क प्रयोग करते रहते हैं । विरोधाभास का अमत्कार भी ममा अनुर व्यक्तियों के लिए साधारण अमत्कार है । यह सब ता कविता नहीं है । इसी प्रकार सामान्य के द्वारा विषय के अत्यन्तमम समर्पन को भी कविता कर्म कहा जाए ! नहीं अमोचना-शास्त्र को परावसी में उक्ति-बद्धता साक्षात्क प्रयोग अर्थकार-अमत्कार आदि में अमत्ता का अर्थ है । अत्यन्त मरग यह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार वेदम भाव कविता नहीं है उसी प्रकार अर्थम अमत्ता भी कविता नहीं है ।

यह रह जाना है संयोज-मत्त्व—अण-संयोज और मय-संगीत । वह भी निश्चय ही कविता नहीं है क्योंकि अण-संगीत और मय-संगीत दोनों ही निरर्थक परावसी में भी सम्भव हैं ।

ता फिर वाच्यम म कविता क्या है ? इन सभी तत्त्वों का समन्वय कविता है । यह समन्वय धर्मात्मी ही कविता है । सौन्दर्य अथवा कविता नहीं है उक्ति

ब्रह्मता कविता नहीं है अन्तरात्मास अन्तकार कविता नहीं है बर्ण-सगीत कविता नहीं है शीपाई की सय कविता नहीं है । इन सबका समञ्जित रूप ही कविता है—अर्थात् रमणीय भाव उक्ति-बैचित्र्य और बर्ण-सय-सगीत तीनों ही मिलकर कविता का रूप धारण करते हैं । अब फिर यह प्रश्न उठता है कि क्या कविता के लिए इन तीनों की स्थिति अनिवार्य है ? क्या इनमें से किसी एक का अभाव कविता के अस्तित्व में बाधक होना ? उदाहरण के लिए, क्या बिना रमणीय भाव-तत्त्व के कविता नहीं हो सकती ? इसका उत्तर देने से पूर्व रमणीय शब्द का आशय स्पष्ट करना आवश्यक है—रमणीय का अर्थ केवल मधुर नहीं है—कोई भी भाव जिसमें हमारे मन को रमाने की क्षमता हो, रमणीय है । इसी दृष्टि से क्रोध स्नानि शोक आदि भावों के भी विशेष रूप रमणीय हो सकते हैं काव्य में होते ही हैं । मैं यह कहना चाहता हूँ कि एक ठो केवल प्रेम शब्द विस्मय आदि सुन्दर भाव ही रमणीय नहीं हैं शोक स्नानि अमर्ष आदि अप्रिय भाव भी रमणीय हो सकते हैं । दुःख, भावों के सभी रूप रमणीय नहीं होते शृंगार जैसे मधुरतम भाव के भी अनेक रूप सर्वथा अरमणीय और अकाम्योचित हो सकते हैं होते हैं । जीवन की इन अनुभूतियों के वे ही रूप रमणीय होते हैं जिनके साथ सहृदय का मन तादात्म्य स्थापित कर सके बिना सहृदय की अस्तवृत्तियों में सामंजस्य स्थापित करने की शक्ति हो । भाव की रमणीयता इसीका नाम है । तो क्या इस रमणीय भाव-तत्त्व के अभाव में कविता नहीं हो सकती ? मेरा स्पष्ट उत्तर है—नहीं इसके अभाव में जो अमलकार आपको मिल सकता है वह बौद्धिक अमलकार ही हो सकता है, जैसे पहली के समाधान आदि में मिलता है । उदाहरित बिच काव्य में इसीकी उपलब्धि होती है । बौद्धिक अमलकार कविता का अर्थ नहीं है अतः जिस उक्ति से केवल बौद्धिक अमलकार प्राप्त होता है वह कविता नहीं । अब दूसरा तत्त्व भीचिए—उक्ति-बैचित्र्य । क्या उक्ति-बैचित्र्य के बिना कविता हो सकती है ? इस प्रश्न के उत्तर के विषय में बड़ा मद्देब है । आचार्य शुक्ल जैसे रसज्ञ आचार्य का दृढ़ मत है कि हाँ हो सकती है । प्राचीन रसवादी आचार्यों का इस विषय में यही मत था—अर्थात् शुक्लजी की यही धारणा है । परन्तु मुझे संदेह है आनन्दवर्धन आदि रसधर्मावादी तो ध्वनि के मातृक्यता की अनिवार्यता मानकर काव्याति में बैचित्र्य की स्थिति निश्चित रूप से स्वीकार कर बैठे हैं क्योंकि अस्पृहा के योग का नाम ही तो बैचित्र्य है । शुक्लजी ने भी अनेक प्रसंगों में इस भाव परित ब्रह्मता का यथोगान किया है किन्तु अपने पूर्ववर्ती काव्य के अतिशय अमलकारवाद से क्षुब्ध होकर मिश्रान्त-रूप में वे उसका निपट कर बैठे हैं । मुझे खेद है कि आचार्य शुक्ल की यह धारणा मैं स्वीकार नहीं कर सकता क्योंकि इसमें एक अतिवाद के विरुद्ध मुझे

अतिवाद की प्रस्थापना है और मनोविज्ञान के इस स्वयंसिद्ध तर्क का निषेध है कि मन के उच्छ्वास के साथ बारी धनिवायत उच्छ्वासित हो जाती है। बारी का यही उच्छ्वास उक्ति-बैचिभ्य है। इसलिये व्यापक अर्थ में उक्ति बैचिभ्य का अभाव कविता में सम्भव नहीं है। प्रकारान्तर से हम यह भी कह सकते हैं कि उक्ति-बैचिभ्य के अभाव में कविता नहीं हो सकती। तीसरा तत्त्व है संगीत। इसका विषय में तो मतभेद और भी अधिक है। संस्कृत काव्यशास्त्र का निर्गम्य मत है कि छन्द कविता का वैकल्पिक उपकरण है। उपर हिन्दी के मध्ययुगीन आचार्यों के लिए छन्द का अभाव में कविता तो क्या साहित्य का किसी रूप की रूपना सम्भव नहीं थी। यूरोप में इस प्रश्न को लेकर नियमित रूप से दो दस बन गए थे—एक ओर धरस्तू और कार्मरिज जैसे आलोचक छन्द को वैकल्पिक मानते थे दूसरी ओर ब्राह्मन आदि का मत से छन्द का संगीत कविता का अनिवार्य माध्यम था। मेरा मत भी छन्द के 'इस पुराने आर्य विधेय' को कविता का अनिवार्य तत्त्व मानने के ही पक्ष में है। छन्द कविता का सहज बाह्य है। प्रत्येक साहित्य-रूप की अपनी-अपनी सहज विधा है। नाटक के लिए सबाद क्या-साहित्य के लिए बर्णनात्मक गद्य आलोचना के लिए विवेचनात्मक गद्य निबन्ध के लिए कथित गद्य और कविता के लिए छन्द। नाटक के रंग-संकेतों में बर्णनात्मक गद्य का प्रयोग होता है उपन्यास में सबाद का आलोचना में कथित गद्य का और निबन्ध में विस्तेषात्मक गद्य का—ऐसे ही कविता में समययुक्त गद्य-संगीत का कुछ कवियों ने सफल प्रयोग किया है। किन्तु यह सहज स्थिति नहीं है। यहाँ एक विधा के तत्त्व दूसरी की सीमा में प्रवेश कर जाता है। जैसे वास्तुकला में मूर्तिकला या चित्रकला का भी प्रयोग प्रायः होता आया है। वास्तव में समस्त कला तथा साहित्य-रूपों का मूल तत्त्व तो एक ही है रूप विधाएं निम्न हैं अथ उनका बाह्य उपकरण बहुधा एक-दूसरे की सीमा का अतिक्रमण करते रहते हैं। नाटक में आख्यायन-तत्त्व का उपन्यास में नाट्य तत्त्व आलोचना में साहित्य का समावेश हो जाता है। परन्तु फिर भी उनके वैशिष्ट्य में कोई अन्तर नहीं पड़ता। इसी प्रकार गद्य-साहित्य का अनेक रूप रस के प्राचुर्य से बाध्यात्मक हो सकते हैं और कविता में भी नाट्य तत्त्व का समावेश हो सकता है। कविता आलोचनात्मक भी हो सकती है और गद्यरत्न भी। किन्तु यह उमका महज या कुछ रूप नहीं है। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि नाटक उपन्यास निबन्ध आदि की भांति कविता भी रस का साहित्य की एक विधित्वा विधा है—मूल तत्त्व तो सभी का एक ही है—रस किन्तु माध्यम के आधा पर हममें परस्पर भेद है जो इनका वैशिष्ट्य की रसा करता है। कविता नाम की साहित्य-विधा का माध्यम है छंद। संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्य—रस के साहित्य का अर्थ है जिसका अन्तर्गत नाटक-उपन्यास आदि का

समावेश है। प्रायः काव्य और कविता में भेद हो गया है। काव्य समस्त रस साहित्य या पाठ्यात्म्य आलोचना-सास्त्र की शम्भाबसी में सर्वनात्मक साहित्य का पर्याय है। कविता उसका पर्याय नहीं है—एक रूप है। जो छन्द के माध्यम के कारण अन्य रूपों से भिन्न है।

सारंश यह है कि पूर्वोक्त तीनों तत्त्व—रमणीय धनुभूति उक्ति-वैचित्र्य और छन्द धर्मात् वर्ण-संगीत और सय-संगीत—कविता के लिए अनिवार्य हैं। इनमें से किसी एक का नाम कविता नहीं है। इन तीनों का समन्वित रूप ही कविता है। पहले दो तत्त्व काव्य धरणा रस के साहित्य के भी अनिवार्य धन्य हैं। तीसरा तत्त्व धर्मात् छन्द ही कविता को काव्य के धर्म्य रूपों से पृथक् करता है। इस दृष्टि से हम यह कह सकते हैं कि कविता रस के साहित्य की उस विधा का नाम है जिसका माध्यम छन्द है। यहाँ एक और शंका का भी समाधान कर मना धनुपयुक्त न होना। वह यह कि क्या रस के साहित्य के धर्म्य रूपों और कविता में केवल रूप विधा धरणा माध्यम का ही अन्तर है और स्पष्ट शब्दों में—क्या उपन्यास और प्रबन्ध-काव्य में केवल यही अन्तर है कि एक प्रतिपत्तय गद्य में लिखा हुआ है और दूसरा नियतसय छन्द में? क्या दोनों के मात्र-तत्त्व धरणा मूल संबन्ध में कोई अन्तर नहीं है? अनेक आलोचकों के मत से दोनों में मूल संबन्ध का अन्तर भी है। उनका विश्वास है कि उपन्यास का आस्वाद और प्रबन्ध-काव्य का आस्वाद भिन्न होता है। इस कारण में केवल इतना ही सत्य है कि आस्वाद के रूप पर माध्यम का प्रभाव भी पड़ता है। उदाहरण के लिए, बदन में बृन्त पर खिल हुए गुलाब और किसी नागरिक के मुसम्बित कमरे में बुलबुले में सजे हुए गुलाब की सौन्दर्यानुभूति में बड़ा अन्तर निश्चय ही पड़ जाता है। इसी प्रकार यह निश्चय है कि रसात्मक तत्त्व के प्रतिपत्तय के कारण ही कविता स्वभावतया छन्द के माध्यम से स्फुरित होती है और छन्द का संगीत उससे रसात्मक तत्त्व को और नी समृद्ध कर देता है। इस दृष्टि से आस्वाद धरणा मूल संबन्ध में भी थोड़े से अन्तर की कल्पना असंगत नहीं है। किन्तु यह अन्तर भाषा का अन्तर है, प्रकार या प्रकृति का अन्तर नहीं। इसलिए मैं अपनी उस स्थापना को फिर म्बाबद् दोहराता हूँ कि कविता रस के साहित्य की उस विधा का नाम है जिसका माध्यम छन्द है।

अन्त में एक मौखिक समस्या का समाधान कर इस प्रसंग को समाप्त कर दूँगा। काव्यशास्त्र में मनाविज्ञान के वर्तमान प्रभाव के फलस्वरूप अनेक नवीन आलोचकों ने यह मत प्रस्तुत किया है कि कविता एक धनुभूति धरणा धनुभूतियों का वर्ग है। उदाहरण के लिए इस युग के सर्वश्रेष्ठ अग्रज आलोचक रिचर्ड्स का कथन है कि कविता धनुभूतियों का एक वर्ग है। तुलसीदास की पूर्वोक्त धरणा की ही आधार मानकर जहाँ तो यह कहा जा सकता है कि इन आलोचकों के

मन से 'स्वाम घोर किमि कहहुँ बलानो । मिरा धनयन नयन बिनु बानी कविता नहीं है बरम् इससे प्राप्त सहृदय की अनुभूति ही कविता है । बात निश्चय ही बहुत गहरी है परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से उससे उमङ्गन ही पैदा होती है । इसलिये कदाचित् अत्यन्त गम्भीर दार्शनिक आधार ग्रहण करने पर भी भारतीय आशय इस प्रपञ्च में नहीं पड़ा उसकी व्यवहार-बुद्धि ने सहृदय की अनुभूति को स्पष्ट शब्दों में रस कहा है और इस अनुभूति को उत्पन्न करनेवासे शब्दार्थ को कविता । तत्त्व-दृष्टि से कदाचित् रिचर्ड्स का मत ही ठीक हो किन्तु व्यवहार-दृष्टि में—समझन-समझान की दृष्टि से—हमारे आशायों की स्थापना ही प्राण है 'सग्लार्थो काव्यम्' । इस प्रकार मैं धूम-फिरकर फिर वही पहुँच जाता हूँ रमात्मक शब्दार्थ ही काव्य है और उसकी अन्वोमयी विधिष्ट विधा आधुनिक अर्थ में कविता है ।

रस का स्वरूप

सत्त्वोद्देकप्रदलएवस्वप्रकारानन्दचिन्मयः ।
 वेदान्तरसार्शुन्मो मद्यास्वादसहोदरः ॥
 लोकोत्तरचमत्कारप्राणाः केशिचत्प्रमातृभिः ।
 स्वाकारवदमिषत्सै नायमास्वाघते रसः ॥

(साहित्यदर्पण तृतीय परिच्छेद)

उपर्युक्त पद्या में कविराज बिष्णुनाथ ने संस्कृत रस-शास्त्र में बणित रस के स्वरूप का मार संकित कर दिया है। यहाँ सत्त्वोद्देक रस का हेतु है चतुष्टय स्वप्रकाशानन्द चिन्मय वेदान्तरसार्शुन्मय ब्रह्मास्वाद-सहोदर, लोकोत्तरचमत्कार के द्वारा प्रकार का और प्रमाता द्वारा रस के अधिकारी का। परिणामतः संस्कृत रस-शास्त्र में रस के मुख्य लक्षण इस प्रकार हैं

(१) रस्यत (घास्वाघते) इति रस—जिसका घास्वादन हो वह रस है—
 धर्मात् रस घास्वाह-रूप है। उसका घास्वावयिता सहृदय ही हो सकते हैं। रस सहृदय-संबन्ध है।

(२) यह घास्वाह धर्मावयव-धान्यमय ही है और यह धान्य चतुष्टय चिन्मय और ब्रह्मास्वर स्पर्शानुभव है। चतुष्टय का धर्म यह है कि इसमें विभाव अनुभाव स्थायी मन्वारी प्रादि की पुष्य या पंच भवना नहीं होती बल्कि सभी की भवना भवना होती है। दूसरे, इस समय किसी धर्म विषय की चेतना नहीं होती और तीसरे, यह अनुभूति चिन्मय धर्मावयवपूर्वक एवं अनुभूतिपूर्वक नहीं है। इसका तात्पर्य भाव के पाठक के लिए यही है कि उसमें ऐन्द्रियता नहीं होती। रस-चरण घास्वाह से धर्मावयव होमके कारण भाव में स्पष्टतः चिन्मय है। अनुभाव रस का धर्म रति का अनुभव नहीं है छीक उमी प्रकार जिस प्रकार बीभत्स रस का धर्म पुनुप्सा या करण का धर्म घोक का अनुभव नहीं है। भाव शोभ

मंरग संबेग धावेग उद्वेग घावेग ध्येबी में 'इमोगन' का अनुभव रस नहीं है किन्तु उस अनुभव का स्मरण प्रति-अवेदन आस्वादन रसग रस है।

(रस-मीमांसा डा० भगवानदास)

(३) यह धानन्द अमरकार—प्राण है। अमरकार का अर्थ है चित् का विस्तार अर्थात् विस्मय। विरचनाय न अपन पितामह का अनुसरण करते हुए अमरकार को अत्यधिक महत्त्व दिया है परन्तु फिर भी यह मानना ही पड़ेगा कि विस्मय या अमरकार का काव्यान्वय में यत्किञ्चित् योग अवर्य रहता है। सुन्दर बन्धु को दत्तकर मन में धानन्द और विस्मय की मिय भावना का उद्वेग होना है। सुन्दर प्राकृतिक हृदय अरबा नला-कृति—उदाहरण के लिए ताजमहल को दत्तकर, मन में जो भावना उत्पन्न होती है वह अरबा धानन्द ही नहीं कही जा सकती उसमें विस्मय का भी प्रतिबाध पाय रहता है। बिदेग व सौंदर्य धारण में भी सौंदर्यानुभूति में विस्मय का तत्त्व प्रतिबाध माना गया है। इसका धानय यही है कि यह अनुभूति स्मृत न हाकर मूदम है। ऐन्द्रियता क अतिरिक्त इसमें बौद्धिकता भी अन्तर्गत रहती है कवि की सोकोत्तर मूजन प्रतिभा क प्रति धारण और विस्मय का भाव भी रहता है अम। इसके अगे अमृत को हो केवस एक रस मानना या अमरकार को बौद्धिक ध्यापाम अरबा पहेभी बुधना समझ सेना अमरकार का अर्थ करता है। बाह के धारणों ने उगे इसी स्मृत अर्थ में अहण कर वेबीदे मअमृतों के वारसअम्बे इकट्ठे कर दिए हैं।

(४) रस न शाप्य है न कार्य न साधात् अनुभव है न पराज न निबिक्त्यक शत है न सविकल्पक अतएव किमी सौक्तिक परिमापा न आबड न हो सकने के कारण यह अनिबचनीय एक अनीतिक है अहानर सहोदर है। सवितर्क अहानन्द का सहोदर है निबिक्त अमाधि का नहीं क्योंकि उनमे तो अहकार मपी वायना का सवका नास हा जाता है परन्तु रस म ऐसा नहीं हाता।

मंदेग में धाव के मनाबंशानिक क सामने तीन प्रश्न हैं

(१) क्या काव्यानुभूति (रस) अनिवायंत धानन्दमयी अरना है ?

(२) क्या काव्यानुभूति अनिवायत मावानुभूति से भिन्न है ?

(३) क्या यह धानन्द अमीतिक और निरामा है ?

धानन्द के विषय में धाधुनिक मनाबिज्ञान के दो मत हैं। एक मत यह है कि जीवन की मपी क्रियाओं का सद्य धानन्द-प्राप्ति है। अर्थात् जीवन की ममन्त्र क्रियाएँ धानन्दाधुन्य हैं। यह सम्प्रदाय धानन्दवादी (इरोनिस्ट) कहलाता है। दुसरे मत व अनुसार ये क्रियाएँ अरने से भिन्न कोई अर सद्य नहीं ररानी। ये अरना सद्य धाव ही हैं। अर्थात् क्रियाशील हाता जीवन का अय है जीवन के मित क्रिया अनिवाय है। इस सम्प्रदाय का नाम है मनाबंशानवादी (हार्तीक)। इनमें पहला जीवन का तावन और धानन्द की शाप्य मानता है

और यह भारतीय भावधारा की दृष्टिकोण के अनुकूल है। दूसरा जीवन को ही जीवन का अन्तिम साध्य मानना है और यह बहानात्मक वास्तुवादा के अनुकूल है। प्रायःकस अधिकतर मनोवैज्ञानिक इस दूसरे मत को ही स्वीकार करते हैं वे ध्यानत्व की स्थिति स्वीकार तो करते हैं परन्तु उस अनुभूति या भाव की विधि मानते हैं लक्ष्य नहीं। और इस प्रकार, काव्य में भी ध्यानत्व को साध्य होने का मौखिक वे नहीं बोलते। उसकी सत्ता को साधारण रूप में स्वीकार करते हुए भी ध्यानधर्म नहीं मानते। उदाहरण के लिए बुद्धात्मा नाटक का भी ध्यानात्मक ध्यानत्वमय होता है यह वे नहीं मानते। परन्तु वास्तव में इस विवेचन में साहित्यिक अदृष्टता के अतिरिक्त कोई विशेष ठोस उल्लेख नहीं है। ध्यानत्व को ये लोग अन्तर्दृष्टियों की क्रिया की सफलता-मात्र मानते हैं। इनका कहना है कि जब हमारी दृष्टियों की क्रिया सफल होती है वे तृप्त हो जाती है तो हमें ध्यानत्व की चेतना होती है। परन्तु इस ध्यानत्व का महत्त्व कुछ नहीं है। महत्त्व है क्रिया का और उसकी सफलता का। यद्यपि जब क्रिया के मूल्य का प्रश्न आता है तो इन लोगों का कहना है कि क्रिया का मूल्य दृष्टियों के सफलता और समन्वय से आका जाना चाहिए। जो क्रिया अतिनी अधिक हमारी दृष्टियों को संकमित और समन्वित करेगी उतनी ही वह मूल्यवान् होगी। काव्य और कला में इस संकमन की अत्यधिक शक्ति है अतएव वे जीवन की अत्यन्त मूल्यवान् सम्पत्ति है। अब प्रश्न यह उठता है कि अंतर्दृष्टियों का समन्वय जो उनकी दृष्टि पर अवलंबित है ध्यानत्व नहीं है तो क्या है? ये लोग उत्तर देंगे कि उससे ध्यानत्व की प्राप्ति तो होती है पर वह केवल ध्यानत्व नहीं है ध्यानत्व से मिला है वह एक वास्तविक अनुभूति है। ध्यानत्व उस अनुभूति की विधि-मात्र है, स्वरूप मात्र है। लेकिन यह केवल बात को उल्लेख देना है। यह पूछा जा सकता है कि इस वास्तविक अनुभूति का ध्यानत्व से विभिन्न रूप क्या है? ध्याप धपनी मन-स्थिति का स्मरण करके देखिए, दोनों में विभेद करना असम्भव है। ध्यानत्व

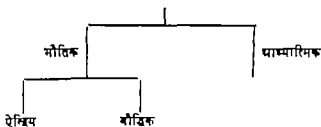
To read a poem for the sake of the pleasure which will ensue if it is successfully read is to approach it in an inadequate attitude. Obviously it is the poem in which we should be interested and not in a by-product of having managed successfully to read it. × × × This error here a legacy in part from the criticism of an age which had still poorer psychological vocabulary than our own is one reason why tragedy for example is so often misapproached.

(Pleasure—Principles of Literary Criticism by I.A. Richards
p-96-97)

की यह प्रकृति है कि वह अपने समय किसी दूसरी अनुभूति की स्थिति सहन नहीं कर सकता। अतएव वृत्तियों के संकसन की अनुभूति ध्यानरम की अनुभूति में अभिन्न ही होगी। इस प्रकार वृत्तियों की पूर्ण संबन्धित अस्वस्वता में वृत्ति अथवा वृत्तियों के पूर्ण संकसन की अनुभूति अतएव ध्यानरम के प्रतिरिक्त और क्या हो सकती है? वास्तविक ध्यानरम का यह निष्कम ध्यानरम की सत्ता का ही प्रतिपादन करता है। हाँ स्वस्व और अस्वस्व धारण और स्थायी ध्यानरम में भेद करता हुआ अन्त में स्वस्व ध्यानरम की उस ध्यानरम की जो वास्तविक और जीवनप्रद है प्रतिष्ठित यह अर्थम करता है। और इस मान देने में किसी को क्या आपत्ति हो सकती है? रम को काव्य की धारणा माननेका मनासोपन का सबसे समझ विरोधी यही सार्वकथावादी सम्प्रदाय है। इसने समझौता हो जाने के बाद कोई विशेष प्रतिरोध नहीं रह पाया। भारतीय दर्शन के भी कुछ सम्प्रदाय हैं जो ध्यानरम से भी ऊपर 'स्वरूप में प्रकल्पान' का ही जीवन का साम्य मानते हैं। परन्तु उनसे हमारा कोई विरोध नहीं क्योंकि काव्य जीवन की ही अनुभूति है, उसे निश्चितक समाधि तक से जाना हारवास्या हागा और जब तक अनुभूति की सत्ता रहती है व सम्प्रदाय भी ध्यानरम का निरस्कार नहीं करते। अन्तर केवल इतना ही है कि ये ध्यानरम से भी और ऊपर स्वरूप में प्रकल्पान की सत्ता तक जाते हैं। परन्तु वहाँ ता अनुभूति की सत्ता ही नहीं रहती निदान वह काव्य के लिए अप्रासंगिक है।

दूसरा प्रश्न निम्नगत यह उठता है कि इस ध्यानरम का स्वरूप क्या है? इस विषय में यही स्थिति तो यही है यह (रम का) ध्यानरम भाव से भिन्न है और इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि कण्डु भावों द्वारा भी तो इसकी प्राप्ति होती है। धारीरिक रति के ध्यानरम और शृंगार-रम के ध्यानरम में अभिन्नता का भ्रम हो भी सकता है परन्तु पुनुष्ठा की प्रत्यक्ष अनुभूति और बीमत्स रम अथवा शोक की प्रत्यक्ष अनुभूति और अरण्य रम में अभिन्नता कैसे होती है? यद्यपि इतना अर्थम मानना पड़ेगा कि जिनमें सम्बन्ध अर्थम है। न शृंगार रम रति की अनुभूति से अस्वस्व है और न अरण्य शोक की अनुभूति से अर्थम प्रत्यक्ष रम के ध्यानरम का स्वरूप अस्व स्थायी भाव से मूलतः सम्बन्ध अर्थम होता है। संस्कृत साहित्य-शास्त्र का यह दूसरा दावा (कि रम भाव में मूल्य है) स्पष्टतः प्रायोगिक है और धारण के मनोविज्ञान की समझे विरुद्ध कुछ नहीं कहना।

इसके धारण सीमण और अर्थम महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठता है रम भौतिक अनुभूति है या अर्थम? धारणा की स्थिति मानकर यदि हम जिनमें तो अनुभूति की समूहक तीन वर्णों में विभक्त कर सकते हैं



स्पष्ट रूप से यह विभाजन स्पष्ट है धार्मिक नहीं है क्योंकि ऐन्द्रिय या बौद्धिक अनुभूति बिना धार्मिक अनुभूति के असम्भव है। इसी प्रकार बौद्धिक या धार्मिक अनुभूति ऐन्द्रिय अनुभूति से स्वतन्त्र कैसे हो सकती है? प्रकृत बुद्धि की क्रिया के बिना ऐन्द्रिय या धार्मिक क्रिया मनुष्य में कैसे कृतकार्य हो सकती है? अतएव यह विभाजन अनुभूति में उपर्युक्त किसी एक तत्त्व की प्रधानता का ही द्योतक है एकमात्रता का नहीं—उदाहरण के लिए कुम्भन का ध्यान ऐन्द्रिय है गणित के किसी प्रश्न को सुसभ्य करने का ध्यान बौद्धिक है, और ब्रह्म के साक्षात्कार प्रकृत योग का ध्यान धार्मिक। अस्तु।

अब यह देखना है कि काव्यान्तर्गत इनमें से किसके अन्तर्गत आता है या वह किसीके अन्तर्गत ही नहीं आता वह स्व-सापेक्ष और स्वतन्त्र है? अस्तु के धार्मिक ने तो उसे धार्मिक और अनिर्बन्धीय कहकर मुक्ति पा ली है। उसने तो स्पष्ट कह दिया है कि काव्यान्तर्गत न ऐसा है न वैसा अतएव वह अनिर्बन्धीय है। परन्तु विरोध में उसके स्वस्व का इतिहास रोचक रहा है। वहाँ का धार्मिक ज्योती बुद्धि और धार्मिक को एक मानता हुआ केवल दो प्रकार की अनुभूतियों की सत्ता स्वीकार करता था — धार्मिक (बौद्धिक) अनुभूति ऐन्द्रिय अनुभूति। काव्यानुभूति को उसने स्पष्टतः सौन्दर्यानुभूति (जिसे वह धार्मिक का अनुभव मानता था) से पूरक ऐन्द्रिय अनुभूति मानकर मिथ्या निम्न कोटि का तथा अस्वस्व ध्यान माना है। अस्तु ने उसे सर्वथा मिथ्या तो नहीं माना है परन्तु ऐन्द्रिय प्रकृत माना है और सौन्दर्य से पूरक रहा है। अतः जिनके तक योरोप में ज्योती और अस्तु के मत ही साधारणतः मान्य रहे। परन्तु बाद में रोमन विद्वान् ज्योतीनस ने उनका स्पष्ट खण्डन करते हुए काव्यानुभूति को धार्मिक अनुभूति घोषित किया।

उसके मत का धारण यह है प्रकृत के सौन्दर्य का उत्तम धार्मिक है। अतएव ज्योती का यह निर्णय कि कला प्रकृत का अनुकरण करती है और प्रकृत स्वयं ज्ञान की अनुभूति है इसलिये अनुभूति की अनुभूति होने के कारण कला मिथ्या और असुखणीय है अस्तु है क्योंकि कला का उत्तम भी नहीं

ज्ञान है या स्वयं प्रकृति का। इस प्रकार प्लोटीनस ने कला वा मौन्द्य के साथ तावात्म्य करत हुए, उसे ध्यात्मारिम्भ धनुमूर्ति का सौरव प्रदान किया। और फिर इसीको हीपेस धारि प्रादर्शवादी दार्शनिकों ने कर्मानिक रूप देकर एक स्थिर सिद्धान्त बना दिया। पीछे क शार्शनिक कला को धरने स्वभाव के धनुमार साधारणतः ध्यात्मारिम्भ वा ऐन्द्रिय मानत रहे और बहुत समय तक इन्हीं दो मतों का भावर्तन होता रहा। अठारहवीं शताब्दी में एडीसन न काव्यात्म्य को कल्पना का ध्यानन्द मानते हुए, उम इन दोनों में पृथक रूप में सामन रता। उमके धनुमार कल्पना का ध्यानन्द बहु ध्यानन्द है जो बस्तु के मूलरूप और कला द्वारा उमके धनुकृत रूप न बीच मिलनेवासे साम्य के भावन न प्राप्त होता है। साम्य के भावन द्वारा प्राप्त यह कल्पना का ध्यानन्द प्रत्यक्ष ही ध्यात्मारिम्भ धरवा बौद्धिक ध्यानन्द और ऐन्द्रिय ध्यानन्द दोनों न भिन्न है। वास्तव में इसमें भारतीय रस का बोधात्मा ध्यात्म मिलता है। उन्नीसवीं शताब्दी न रोमान्टिक भाव-म्भावतन्त्र्य का प्रभाव इतना अधिक बढ़ा कि बुद्धि की उपसा कर काव्यात्म्य का स्वरूप एक माध धनम्बिर हा गया। प्रथम जीवन स काव्य का सर्ग इतना कम हा गया कि धीरे-धीरे माध काव्यानुमूर्ति को एक निरपेक्ष धनुमूर्ति मानते मने जिसकी कि स्पष्ट प्रतिध्वनि बीमवा धनारणी के पहले धरण में बटपे और कदारव बस० धारि में निश्चल रूप न मुताई पडी। उनके धनुमार काव्यात्म्य एक विमिष्ट और धनुपम ध्यानन्द है। वा लौकिक धनुमूर्तियों का विवचन करनेवाली किसी भी धनारणी द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। इम प्रकार इतना मत भारतीय ध्यात्वों न मिल जाता है। कुछ ऐसी ही परिस्थितियों में धर्मिर्वाचनावा न उरय हुआ और प्रमिष्ट धानिक बनेटेटा क्रोध न बुद्धि की परिधि के बाहर और इन्द्रियों की परिधि क मोतर मानव-प्राण धनता में महजानुमूर्ति की एक पृथक धरित मानते हुए काव्य वा कला को इमो धरित क गुण माना। उमन सिद्धान्त क धनुमार काव्यानुमूर्ति की स्थिति बौद्धिक धनुमूर्ति और ऐन्द्रिय धनुमूर्ति की मध्यवर्ती एक पृथक धनुमूर्ति—महजानुमूर्ति है जिसका निर्माण बौद्धिक धारणाधों (Concepts) धरवा ऐन्द्रिय संवेदनों (Sensations) से न होकर विम्वों न होता है। कल्प वा यह कन कलाधरियों के मत का ही कानतिक या कमानिक रूप है। इम

* (i) "First this experience is an end in itself, is worth having on its own account, has an intrinsic value Next its poetic value is this intrinsic worth alone—for its nature is to be not a part, nor yet a copy of the real world (as we commonly understand that phrase) but to be a world by itself independent complete, autonomous."

प्रकार संक्षेप में स्वदेश-विदेश के साहित्य-शास्त्र में काव्यानुभूति अथवा काव्या-नन्द विषयक पाँच सिद्धान्त मिलते हैं।

(१) काव्य का भ्रान्त्य प्रत्यक्षतः ऐन्द्रिय भ्रान्त्य है। इस मत का प्रवर्तन किम्बा जेटो ने और प्राकृतिक युग में परिपोपण किम्बा इब्राय ने। इसके अनु-सार काव्य या कला से प्राप्त भ्रान्त्य ठीक वैसा ही है जैसा घरकस से मिलता है।

(२) काव्य का भ्रान्त्य आत्मिक भ्रान्त्य है। आत्मा सहज सौन्दर्य-रूप है सहज भ्रान्त्य-रूप है। काव्य उसीका उच्छ्रवण है अथ बहु स्वभावतः प्राप्या-त्मिक अनुभूति है। स्वदेश-विदेश के प्राक्संवादी प्राचाय इसी मत को सत्य मानते हैं। हीयेन रबीन्द्रनाथ थावि का यही मत है।

(३) काव्यानन्द कल्पना का भ्रान्त्य है अर्थात् मूल वस्तु और उसके काव्या-त्मिक रूप की तुलना से प्राप्त भ्रान्त्य है। यह एबीसन का मत है।

(४) काव्यानन्द सहजानुभूति का भ्रान्त्य है। इस मत के प्रवर्तक है जोसे।

(५) काव्यानन्द सभी प्रकार के लौकिक भ्रान्त्यों से भिन्न एक अनुपम और विशिष्ट भ्रान्त्य है—स्व-सापेक्ष। यह हमारा काफ़ी पुराना सिद्धांत है। विदेश में इसका जन्म जलीसर्बी सताम्बी में हुआ और इस युग में डा. बँडने द्वारा इसकी पूर्ण प्रतिष्ठा हुई।

उपर्युक्त सभी मत अपना-अपना महत्त्व रखते हुए भी मनोविज्ञान की कसौटी पर पूरे नहीं उतरते और इसी कारण ध्यान के विद्यार्थी का पूर्ण परितोष करने में असमर्थ रहते हैं। काव्य की अनुभूति प्रत्यक्ष ऐन्द्रिय अनुभूति नहीं है यह पहले ही प्रमाणित किम्बा का चुका है क्योंकि ऐसा मान भने पर थोक चुपुप्सा आदि की अभिव्यंजना से प्राप्त अनुभूति थोक और चुपुप्सामय ही होगी जो कि स्पष्टतः असत्य है। काव्य की अनुभूति को प्राप्यात्मिक अनुभूति मानना भी प्रायः स्वीकार्य नहीं क्योंकि एक तो आत्मा की सत्ता ही सहज मान्य नहीं है दूसरे काव्यानन्द में अपनता आदि की स्थिति इतनी स्पष्ट है कि उसे आत्मा के शुद्ध अथवा भ्रान्त्य का रूप मान लेना हास्यास्पद होगा। एबीसन का कल्पना

(A.C. Bradley Oxford Lectures on Poetry pp. 5)

(ii) "Thus Mr Clive Bell used to maintain the existence of an unique emotion—*aesthetic emotion*."

(I A. Richards, Principles of Literary Criticism)

"To appreciate a work of art we need bring with us nothing from life, no knowledge of its ideas and affairs, no familiarity with its emotions and to not forget the knowledge of life can help no one to our understanding

(Clive Bell, Art pp. 25)

का ध्यानन्द आत्यन्तिक ठप्प नहीं है क्योंकि कल्पना मन (मूकमेन्द्रिय) और बुद्धि की क्रिया-मात्र है वह स्वतन्त्र नहीं है। अतएव कल्पना का ध्यानन्द ऐन्द्रिय और बौद्धिक ध्यानन्द से स्वतन्त्र नहीं है। इसी प्रकार कोने द्वारा प्रतिष्ठित सहजानुभूति की शक्ति (Intuition) को भी स्वतन्त्र शक्ति मान लेने के लिए मनोबिज्ञान धाज ठगार नहीं है। मनोबैज्ञानिकों ने एक स्वर से कह दिया है कि इस विभिन्न शक्ति के लिए मनोबिज्ञान में कोई पृथक् स्थान नहीं है। अन्त में काम्यानुभूति का अनिर्बचनीय कहना या उसको एक विभिन्न और स्व-सापेक्ष्य अनुभूति मानना समस्या का सुसम्भना नहीं उमम भावना है। इस विषय में अनेक युक्तियाँ भी जा सकती हैं परन्तु सबसे सीधा और प्रबल ठर्क रिचर्ड्स का है — वे कहते हैं कि जब सौख्य की अनुभूति के लिए हमारे पास कोई विशिष्ट या पृथक् इन्द्रिय नहीं है तो उसकी अनुभूति को ही विशिष्ट या पृथक् कैसे माना जा सकता है? उसका अनुभव साधारण इन्द्रियों द्वारा ही तो होता है इसलिए उसे साधारणतः ऐन्द्रिय अनुभूति में मिल्न कम मानें ?

अतएव मनोबिज्ञान को परिधि के भीतर ही अर्थात् बौद्धिक और ऐन्द्रिय अनुभूतियों के अंतर्गत ही काम्यानुभूति का स्वरूप निर्णय करना होया। हम देखते हैं कि काम्यानुभूति में चित्त की द्रुति बिस्तार आदि मानसिक संवेदन तो होते ही हैं रोमांच अथु आदि धारीरिक संवेदन भी प्रायः अनुभूत हावे हैं अतएव काम्यानुभूति में ऐन्द्रिय अनुभूति का अथ अथय मानना होया। यह प्रत्यक्ष अनुभव की बात है उसमें न भारतीय आचार्य न और न विदेश के दार्शनिक ने ही कभी संदेह किया है। परन्तु हम यह भी देखते हैं कि प्रत्यक्ष रूप में अपन प्रियजन का स्पष्ट कर चित्त में द्रुति और धरीर में रोमांच का जो अनुभव होता है वह उस अनुभव से स्पष्टतः भिन्न होता है जो रगमच पर इसी प्रकार के प्रसंग को देखकर अथवा (उससे भी किंचित् भिन्न) नाटक में पढ़कर प्राप्त हाता है। चित्त में द्रुति और धरीर में रोमांच इस समय भी होता है पर वह पहल से भिन्न होता है। कसा होता है? स्पष्टतः उतना प्रत्यक्ष अतएव उतना तीव्र नहीं होता। धारों में भिन्नता ता अथय है पर यह भिन्नता प्रत्यक्षता अतएव तीव्रता की शक्ति (degree) की भिन्नता होती है। यह दूसरी अनुभूति अथवा अथ अथय और अथय है। और इस अथय अथयता का कारण यह है कि यह प्रत्यक्ष अथयता का अनुभव नहीं है भावित (contemplated) अथयता का अनुभव है। भावन करन में पहले कबि को फिर दर्शक या पाठक को बुद्धि का उपयोग करन की आवश्यकता होती है। अन्तः परिणाम यह निकसा कि काम्यानुभूति है तो ऐन्द्रिय अनुभूति ही परन्तु साधारण नहीं है भावित (contemplated) अनुभूति है। अर्थात् उममें ऐन्द्रिय और बौद्धिक अनुभूति के तत्त्वों का सबल-नीर संयोग है। अथ एव अथय उठ गया अनुभूति जो काम्या की अथयता

करता है। अनुभूति का विस्फेपण करने पर हमारे हाथ में केवल संवेदन रह जाते हैं जिनको वास्तव में हम अपने मनोजगत् के अणु-परमाणु कह सकते हैं। शारीरिक रूप में यह प्रत्यक्ष और स्मृत होते हैं मानसिक रूप में सूक्ष्म और बिम्ब रूप और बौद्धिक रूप तक पहुँचते-पहुँचते इतने सूक्ष्म हो जाते हैं अर्थात् इनके बिम्ब भी इतने सूक्ष्म हो जाते हैं कि वे सगमग अरूप ही-से मयते हैं उनका रूप नहीं कबल अस्थिति-सूत्र ही रह जाता है। जैसे बहुत बारीक बज्जीर की कड़ियाँ नहीं दिखाई पड़ती केवल सूत्र ही दिखाई पड़ता है। इस प्रकार वास्तव में अनुभूति अपने सभी रूपों में सूक्ष्म संवेदन रूप ही है, उसमें (शारीरिक मानसिक और बौद्धिक सभी रूपों में) केवल प्रत्यक्षता की मात्रा का ही अन्तर है, सूक्ष्मता प्रकार का नहीं। अतः काव्य की अनुभूति या ध्यानत्व भी संवेदन रूप ही है परन्तु ये संवेदन स्मृत और प्रत्यक्ष न होकर सूक्ष्म और बिम्ब रूप होते हैं। साधारण रूप में प्रत्यक्षता और तीव्रता की मात्रा के विचार से हम अमघा तीन प्रकार के संवेदनों की कल्पना कर सकते हैं — १ एक तो श्रुत प्राकृतिक संवेदन (ये एकांत प्रत्यक्ष तथा स्मृत होते हैं) जो उदाहरण के लिए, हमें अपने प्रियजन के प्रत्यक्ष स्पर्श प्राप्ति से प्राप्त होता है। २ दूसरे वे संवेदन जो उस स्पर्श के स्मरण से प्राप्त होते हैं। ये मानो पहले प्रकार के संवेदनों का बिम्ब रूप होते हैं। स्वभावतः ही ये प्रत्यक्ष अथवा स्मृत रूप और शारीरिक अथवा सूक्ष्म अधिक होते हैं। ३ तीसरे वे संवेदन जो इस स्मृति के विस्फेपण या बौद्धिक अध्ययन प्राप्ति से प्राप्त होते हैं। ये मानो बिम्ब के भी प्रतिबिम्ब हैं और स्वभाव से ही अत्यंत शारीरिक एवं सूक्ष्म होते हैं। वास्तव में इनका स्मृत शारीरिक अंश प्रायः मरु हो जाता है। इन्हें हम बौद्धिक संवेदन कह सकते हैं। सभी प्रकार की बौद्धिक क्रियाओं में हम इसी प्रकार के संवेदन प्राप्त होते हैं। प्रत्यक्ष जीवन में प्रायः ये ही तीन प्रकार के संवेदन हमारे अनुभव में आते हैं। परन्तु विद्वानों के प्रकार के संवेदनों के बीच एक चौथे प्रकार के संवेदन भी होते हैं जो स्मृति के भावन से (जैसे कथाओं में उसकी सहजानुभूति से और साधारण व्यावहारिक सम्बन्धों में उसको काव्य-रूप में उपस्थित वा प्रहस्य करने से) प्राप्त होता है। यह भावन का अनुभव न ता स्मृति का प्रत्यक्ष अनुभव होता है और न उसके विस्फेपण प्राप्ति का बौद्धिक अनुभव। यह स्मृति के अनुभव की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म और बौद्धिक अनुभव की अपेक्षा अधिक स्मृत होता है, और उसीक अनुपात से इसके संवेदन भी एक की अपेक्षा सूक्ष्म और दूसरे की अपेक्षा स्मृत होते हैं। इस प्रकार काव्य से प्राप्त संवेदनों की स्थिति प्रत्यक्ष मानसिक संवेदनों से सूक्ष्मतर और बौद्धिक संवेदनों से अपेक्षाकृत अधिक प्रत्यक्ष एवं स्मृत टहलती है। इसीलिए तो शाय्दानुभूति न एक और ऐन्द्रिय अनुभूति की स्मृतता और तीव्रता (वेगियता और बटुता) नहीं होती

घोर दूररो घोर बौद्धिक अनुभूति की पर्यता नहीं होती और इसीलिए वह पत्नी में अधिक गुड परिष्कृत और दूररो से अधिक सरल होती है।

यहां यह शंका एक बार फिर उठती है कि यदि वाय्वाभूति संवेदन से ही निमित्त है तो कटु संवेदनों के काम्य-रूप की अनुभूति मधुर क्यों होती है ? हमका समाधान करने से पूरा कटु संवेदन और मधुर संवेदन की परिभाषा करना उचित होगा। वास्तव में संवेदन न अपने-आप में कटु है और न मधुर कटुता और माधुर्य ता अनुभूति के गुण हैं। अनुभूति में एक पृथक संवेदन नहीं होता संवेदनों का एक विधान होता है। जब संवेदनों में सामंजस्य और धनिति स्थापित हो जाती है तो हमारी अनुभूति मधुर होती है और जब वे बिभ्रुत्स और बिभीण होते हैं तो अनुभूति कटु होती है। जैसा मीने अभी कहा था उस से प्राप्त संवेदन प्रत्यक्ष न होकर सूक्ष्म बिभ्र रूप होते हैं एक तो इसी कारण उनकी कटुता पर्यंत सीण हो जाती है दूसरे व कवि द्वारा आबिध होते हैं इसीलिए अनिवार्यतः उनमें सामंजस्य स्थापित हो जाता है। क्योंकि वाय्व के भावन का अर्थ ही अभ्यवस्था में व्यवस्था स्थापित करना है और अभ्यवस्था में व्यवस्था ही आनन्द है। इस प्रकार जीवन के कटु अनुभव भी वाय्व में अपने तरकरूप संवेदनों के समन्वित हो जाने से आनन्दप्रद बन जाते हैं।

कदण रस का आस्वाद्य

भारतीय काव्यशास्त्र का प्रतिनिधि मत तो यही है कि कदण रस का आस्वाद्य भी शृंगार आदि की भाँति ही सुखान्मक होता है। कदण के साथ रस शब्द का प्रयोग ही उसके आनन्द का चोटक है। रसवादी भाषायों ने इस प्रश्न को प्रायः स्वतःसिद्ध मानकर अधिक ठर्क-बितर्क नहीं किया—मानो कदण का रसत्व ही अपने-आप में इस प्रश्न का अन्तिम उत्तर हो। फिर भी उनके पास इस विषयता का निश्चित समाधान या इसमें संदेह नहीं हो सकता। इस समाधान के प्रायः तीन रूप हैं

(१) काव्य-रस प्रसौकिक होता है अतः सौकिक कार्य-कारण-सम्बन्ध उसका लिए अनिवार्य नहीं है। दुःख से दुःख की उत्पत्ति तो सौकिक नियम है किन्तु कवि की प्रसौकिक प्रतिभा के स्पर्श से काव्य में दुःख से सुख की उत्पत्ति भी सम्भव हो जाती है—यही काव्य की प्रसौकिकता है।

(२) दूसरा समाधान अपेक्षाकृत अधिक गम्भीर है। मनुनायक की स्थापना के अनुसार काव्य में प्रत्येक भाषा साधारणीकृत होकर अन्ततः भोग्य बन जाता है। इस प्रकार भाषा की विविधता नष्ट हो जाती है। व्यक्ति-सम्बन्ध से मुक्त हो जाने पर उसके सूक्ष्म सौकिक सम्बन्ध नष्ट हो जाते हैं अर्थात् उसका रूप सामान्य जीवनगत अनुभूति की अपेक्षा अधिक उदात्त और प्रबल हो जाता है। भारतीय दर्शन की आन्तिका में व्यक्तिवत् 'अस्य' की चेतना में सुख नहीं है किन्तु व्यक्ति की सीमाओं से मुक्त 'तूमा' की चेतना में परम सुख की उपलब्धि है। इसी व्याप से काव्य में शोक आदि अप्रिय भाषा भी साधारणीकृत होकर व्यक्ति-सम्बन्ध-जन्य दोषों से मुक्त रसमय बन जाते हैं। स्वर्गीय व केसवप्रसाद मिश्र ने योग की 'मधुमती भूमिका' के आधार पर इसे काव्य की 'रसवती भूमिका' कहा है।

(३) तीसरा समाधान अभिव्यक्तिवाचियों की धोर से प्रस्तुत किया गया है। इनका कहना है कि रस की उत्पत्ति नहीं होती अभिव्यक्ति होती है। यदि

उत्पत्ति होती तब तो शोक से शोक की उत्पत्ति का तर्क काव्य पर लागू हो सकता था किन्तु रस की तो अभिव्यक्ति है अर्थात् काव्य-नाट्य-मुख्यों के प्रभाव से प्रेक्षक की आत्मा में रजोगुण तथा तमोगुण का तिरोभाव और सतोगुण का उद्रेक हो जाता है, जिससे परिणामस्वरूप उसका आत्मानन्द 'रस'-रूप में अभिव्यक्त हो जाता है। सत्त्व का उद्रेक और रजोगुण-तमोगुण का तिरोभाव ध्वानन्द की स्थिति है जिसमें वृत्त भाव विद्यमान नहीं रह सकता अतः रसत्व की प्राप्ति होने पर, सत्त्व के पूर्य उद्रेक तथा रजोगुण-तमोगुण के नाश के कारण धाक धादि की कटुता स्वयं मूक हो जाती है और ध्यानन्दमयी चेतना शेष रह जाती है।

संस्कृत के प्रतिनिधि प्राचार्यों ने धारण य ही तीन समाधान प्रस्तुत या व्यञ्जित किए हैं किन्तु कुछ स्वतंत्रभेदा प्राधाय अपवाद भी हैं। उदाहरणार्थ (४) धारणात्मनय ने रस रसन के ही आधार पर एक चौथा समाधान प्रस्तुत किया है। उनका तर्क यह है यद्यपि यह सत्त्व बुद्धमाहादि ने कल्पित है फिर भी जीवात्मा राग विद्या और क्रमा—अपने इन तीन तत्त्वों के द्वारा उसका भोग करता है। इनमें रस मुख्यत्व का अभिमान है, विद्या राग का वह उत्पादान है जिनके द्वारा अभिद्या से आच्छन्न चेतन्य का ज्ञान अभिव्यक्त हो जाता है और क्रमा धारणा को अभिव्यक्तित (प्रकीर्ण) करने वाला हेतु है। इसी म्याय से प्रेक्षक भी धाक भय ग्लानि धादि से निष्पन्न कश्यप भयानक बीभत्स धादि रसों का अपन आत्मस्व हीन तत्त्वों—राग विद्या और क्रमा के द्वारा चर्चण करता है—

रागविद्याकलासंज्ञे पुस्तस्तत्वेस्त्रिमिः स्वतः ।
 प्रवृत्तिगोचरोत्पन्ना बुद्ध्यादिक्रयोरसौ ॥
 भागं निष्पाद्य निष्पाद्य वातनास्मैव तिष्ठति ।
 दुःखमोहादिकल्पमपि भोग्यं प्रतीयते ॥
 अस्मत्स्वामिमानेन स राग इति कथ्यते ।
 विद्या नामेति तत्त्वं यद्रागोपादानमुच्यते ॥
 तथाऽभिव्यंभ्यते ज्ञानं पुरुषस्य विपश्चिन्तः ।
 चैतन्यस्य मलेनैव सरुदस्य स्वमाशतः ॥
 अभिन्नजनहेतुर्या सा कलेस्वमिधीयते ।
 सुररदुःखारिभक्त्य बुद्धेवृत्तिगोचर उच्यते ॥
 एव परस्परप्राप्तेर्भाविष्यता गतैः ।
 बुद्ध्यादिक्रयैर्भोगान्नुमुक्ते रसात्मना ॥

—(भावप्रकाशन पृ० ३३)

धारणात्मनय तो ध्यानतोपत्त्वा भाववाचियों की परिधि में ही रहे हैं परन्तु

स्वमृष्ट घौर उगरे भी अथि क नाद्यवर्षण के लेलकश्य रामचन्द्र-मुखबन्ध ने घास्त्रीय परम्परा के विरुद्ध अत्यन्त निर्भीक शब्दों में यह स्थापना की है—
 'सुखबु सात्मको रस' (नाद्यवर्षण स्मोक १ ६, पृ १५८)—अर्थात् रस की अनुभूति सर्वत्र सुखात्मक ही न होकर बुखात्मक भी होती है। इनके अनुसार 'तत्रैष्टविभावादिप्रवितस्वरूपसम्पत्तयः शृंगार-हास्य-वीराद्यभूतजान्ता' पंच सुखात्मनोऽपरे पुनरेभिष्टविभावाद्युपनीतात्मानः कण्ठ-रौद्र-बीभत्स-भयानक-स्वत्वारो बुखात्मानः' (नाद्यवर्षण पृ १ ६)। अर्थात् शृंगार, हास्य, वीर, भयम् और शान्त (इष्ट विभावादि पर प्राप्ति करने के कारण) सुखात्मक है और कण्ठ, रौद्र, बीभत्स और भयानक (अनिष्ट विभावादि से उपनीत होने के कारण) बुखात्मक है।—उब फिर प्रश्न उठता है कि ऐसी स्थिति में सामाजिक कस्य प्रादि का प्रेषण या अवरण क्यों करता है? नाद्यवर्षण में इसका विस्तृत कारण दिया गया है—

यत् पुनरेभिरपि अमत्कारो हस्यते स रसास्वादिभिरामे सति बधावस्थित-
 वस्तुप्रदर्शकेन कवि-नटशक्तिकोशालेन । विस्मयन्ते हि गिररक्षेत्रकारिणाःप्रपि
 प्रहारशुभालेन वैरिणा सौख्यीरमागिनः । अनेनैव च सर्वाङ्गाङ्कारकेन कवि-नट
 शक्तिब्रह्मणा अमत्कारेण विप्रलम्ब्या परमात्मरूपतां बुखात्मकेभ्यपि कस्यचिपु
 लुमेवत् प्रतिबानते । एतदास्वादिभ्योऽप्येन प्रेक्षका अपि एतेषु प्रवर्तन्ते । क्वयस्तु
 सुख-बुखात्मकसंसारानुकम्प्येण रामादिचरितं निबध्मन्तः सुख-बुखात्मकरसा-
 नुविद्विमेव प्रथमि । पालकमापुर्पमिष च तीस्तास्वादेन बुखास्वादेन सुतरां
 सुखानि स्ववन्ते इति ।

(नाद्यवर्षण पृ० १२)

इसका सारांश यह है कि कस्य रौद्र भादि के द्वारा भी जो अमत्कार की प्रतीति होती है, उसका कारण है यमार्थ वस्तु-प्रदर्शन में निपुण कवि और नट का कौशल। सौख्यवित वीर धनु के घिररक्षेत्रकारी प्रहार-कौशल को देख कर भी विस्मय-विमुग्ध हो जाते हैं। प्रेक्षक इसी अमत्कार के लीम से कस्यारि के हस्यों को देखता है—इस अमत्कार से ही प्रवर्षित होकर वह बुखात्मक हस्यों में आनन्द की प्रतीति करता है। उभर कवि भी सुख-बुखात्मक संसार के अनुकूप रामादि के चरित को सुख-बुखात्मक रस से अनुविद्वि प्रस्तुत करते हैं। जिस प्रकार मिर्च भादि के संयोग से पालक के स्वाद में अमत्कार घा जाता है इसी प्रकार बुख के तीव्र घास्वादि से सुख और भी घास्वादि हो जाता है।

इस विवेचन से पूर्वोक्त चार समाधानों के अतिरिक्त दो और समाधान उपलब्ध होते हैं—

(५) कश्यप रस से प्राप्त धानन्द (धमत्कार) काव्य-कीर्तन प्रबन्ध काव्य तथा नाट्य दोनों के समवेत बीजसूत्र पर धामृत रहता है। प्रेम्णक या द्योता कश्यप रस में धानदानुभूति नहीं करता, बल्कि उसकी अभिव्यञ्जना करने वाले कवि तथा अभिनेता के कला-अपुष्प से जन्मकृत होता है। इस धमत्कार से ही कश्यप रस में धानन्द की प्राप्ति प्रबन्ध धामास हो जाता है।

(६) जीवन में ध्यार वैविध्य है। पद रसों में जहाँ मधुर रस है वहाँ तिक्त और अम्ल रस भी—विपरीत स्वाद होने पर सभी को 'रस' नाम से अभिहित किया जाता है और प्रपानक आदि में रसना रसिक इनका 'रस' लेते हैं। इसी प्रकार जब रस में एक ओर रतिमूलक शृंगार है तो दूसरी ओर शोभमूलक कश्यप भी। धनुर्मूल्यात्मक रूप सर्वथा विपरीत होने पर भी शास्त्र में इनका नाम 'रस' ही है। और काव्य क 'प्रपानक' में सहृदय इन सभी का आस्वादन करते हैं।

इस प्रकार 'रस' में 'सुख' की इस विषय समस्या के भारतीय काव्य-शास्त्र का मौलिक समाधान प्रस्तुत करता है —

(१) काव्य की सृष्टि धर्मोक्ति है वह नियतिवृत्त नियमों से रहित नाताधमत्कारमयी है। अतः लोकानुभव से भिन्न सुख से सुख की उदभूति उदय सहज-सम्भव है। यह पुनः नहीं ठर्क है जिसको कलावादियों ने—'बड़े कलाइव बेस धारि' ने बीमबी छती के धारम्भ में मनीन रूप में पुनः प्रस्तुत किया है—'सहने तो यह धनुमभ धपना उद्देश्य धाय ही है। धपने ही लिए इसकी सृष्टा की जा सकती है इसका धपना निजी मूल्य है। दूसरे काव्य की दृष्टि से इसके इस निजी मूल्य का ही महत्त्व है। क्योंकि सामान्य धर्म में बलु-जयत् का एक धय होगा या उसकी धनुकृति होना इसका स्वभाव नहीं है। यह तो धपने धाय में ही एक दुनिया है—स्वतन्त्र स्वत-पूर्व और स्वायत्त।'^१

(२) रस की धनुभूति मापरणीकृत धनुभूति होने क कारण ध्यतिवृद्ध रस-धय न मुक्त होती है—अतः करण आदि रसों में दोषादि का दण नष्ट हो जाता है शुद्ध भाव आस्वाद-रूप में तोय रह जाता है। इस ठर्क का संकेत शास्त्र में धरस्तू में भी मिल जाता है। किन्तु वह धरपन्त धविकर्मित रूप में है—श्री० कुचर ने जिस धग्दाधमी में अने प्रस्तुत किया है वह यूरोप कविनाम धीम आसाधना-शास्त्र से प्राप्त धाधुनिक धग्दाधमी है। इस दृष्टि से भारतीय धाधाय अट्टनायक का महत्त्व धधुष्ण है—उन्होंने धरपन्त ठर्क-धयत तथा धार्लिक धग्दों में साधारणीकरण क सिद्धांत द्वारा 'कश्यप' आदि क धोग का

प्रतिपादन किया है।

भट्टनायक के सिद्धांत से एक और समाधान का संकेत मिलता है—काम्य दिग्दर्शन अनुभव प्रत्यक्ष न होकर भावित अनुभव होते हैं, मरु कट्ट अनुभवों की प्रत्यक्ष अनुभूत कट्टता उनमें नहीं रह जाती बरन् कल्पना के चमत्कार का समावेश हो जाता है जिससे शोक भी आस्वाद्य बन जाता है। पश्चिम के भ्रान्तोत्पन्ना-शास्त्र में यह मत काफी प्रचलित रहा है।

(३) रस का परिपाक सत्त्व के उद्रेक की अवस्था में ही होता है। यर्थात् ऐसी अवस्था में होता है जब रजोगुण और तमोगुण तिरोभूत हो जाते हैं और साहचर्य की चेतना सतीबुद्ध से परिष्कृष्ट हो जाती है। यह अवस्था सुख की अवस्था है इसमें तमोगुण से उत्पन्न (मोह-बिकारी) शोक की कट्ट अनुभूति सम्भव नहीं है। यह सम्भावनी भारतीय काम्य-शास्त्र की अपनी पारिभाषिक सम्भावनी है वर्तमान यूरोप का मनोविज्ञान यथवा प्राचीन-नवीन भ्रान्तोत्पन्ना-शास्त्र इससे परिचित नहीं है परन्तु काम्य भेद को हटा देने से उपर्युक्त मत अधिक अपरिचित नहीं रह जाता। अभिनव का 'सत्त्वोद्रेक' शास्त्र में भरतु के विवेचन रिचार्ड्स के 'अन्तर्बुद्धियों के साम्राज्य' और सुकसनी द्वारा प्रतिपादित 'हृदय की मुक्तावस्था' से बहुत निम्न नहीं है। भेद केवल विचार पद्धति का है और मात्रा का भी है—भरतु ने चिकित्सा-शास्त्र की पद्धति और सम्भावनी प्रणाली की है रिचार्ड्स ने मनोविज्ञान की सुकसनी ने भ्रान्तोत्पन्ना शास्त्र की और अभिनव आदि ने दर्शन (अभिमानस-शास्त्र) की। तमोगुण और रजोगुण के तिरोभाव के उपरान्त सत्त्व का शेष रहता भरतु के चर्चों में कट्ट भावों का रक्षण और उद्वेग्य मन-दान्ति' ही तो है। अन्तर कवच 'उद्रेक' शब्द पर आधारित है।

धारवातनय का समाधान इसीका विक्रम है। उसका आधार यह है कि आत्मा निरवधानम्बु है। उसकी आत्मन्वयनी प्रकृति इतनी प्रबल है कि वह संसार के दुःख-मोहादि मायात्म्य कल्पों पर अनिर्वायत विजय प्राप्त कर उन्हें मोय्य बना लेती है। कल्प रस के आस्वाद्य होने का मूल कारण आत्मा की यही आत्मन्वयनी प्रकृति है। यह समाधान कुछ भारतीय ध्यानन्वय पर आधारित है—करुणा-प्रधान मसीही दर्शन पर आधारित परवर्ती पाश्चात्य काम्य शास्त्र में इसकी प्रतिष्ठा ही प्रायः नहीं मिलती।

(४) कला का सौन्दर्य कल्प के उद्वेग को चमत्कार में परिणत कर देता है। कला का आचारभूत मिश्रण है सार्वज्ञिक—अनेकता में एकता की स्थापना। अन्तर्बुद्धियों का समन्वय करने के कारण यह प्रक्रिया अपने आप में

मुपद होती है—इसे ही कला-मूजन या सौन्दर्य की सृष्टि का ध्यान करते हैं। कला-मूजन के समय कवि तथा कलानुभूति के समय सहृदय का चित्त इस प्रक्रिया द्वारा समाहित होकर उक्त ध्यान का अनुभव करता है। इसके प्रतिरिक्त समृद्ध अभिव्यञ्जना विधिपट पर रचना संगीत-गुण तथा नाटक में नाट्य-प्रसाधन धारि 'काम्यात्मकार-अन्य ध्यानात्मक भी कल्याण की कटुता को नष्ट करने में सहायक होता है।

यूरोप के ध्यानात्मक-ध्यानात्मक में श्री बुद्ध ध्यानात्मकों ने इसी मूल की स्थापना की है—वहाँ इस 'काम्यरूप-सिद्धान्त' के नाम से परिचित किया जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार काम्यरूप के सोचने से कल्याण रस की कटुता नष्ट हो जाती है और सुहृदय का चित्त कमलकार का अनुभव करता है।

(६) ध्यानात्मक समाधान उपयुक्त समाधानों की अपेक्षा अधिक धार्मिक है—मानव प्रकृति त्रिगुणात्मक है मयुर और कटु दोनों प्रकार की अनुभूतियाँ जीवन का धर्म हैं। मानव जीवन के वैश्विक में रस होता है अतः कल्याण धारि के प्रथम या ध्यानात्मक में उसकी ध्यानात्मक होना कई धारणों की बात नहीं है। ध्यानात्मक ध्यानात्मक-ध्यानात्मक का 'ध्यानात्मक-सिद्धान्त' भी इससे मिसठा पुनता है। इस सिद्धान्त के अनुसार मानव को मानव-जीवन के सभी अनुभवों में ध्यानात्मक है—वह वहाँ विवाह धारि मगल-उत्सवों में रस होता है वहाँ मृत्यु धारि से संबद्ध दुर्घटनाओं में भी उसको रस रचि नहीं है—बर-बाधा और धार-मात्रा होना में मानव का उत्साह इष्टम् है। इसी म्याय से काम्य धारि काम्य दोनों प्रकार के इष्टों में प्रकृत की विमलस्वी होती है।

इस छः समाधानों के प्रतिरिक्त बौद्ध दर्शन के दुःखवाद पर ध्यानात्मक एक धारि भी समाधान भारतीय ध्यानात्मक की धारि से प्रस्तुत किया जा सकता है। बौद्ध दर्शन के अनुसार दुःख प्रथम धारि सत्य है। इसका सम्यक ज्ञान जीवन की प्रथम विधि है, जिसपर अन्य विधियाँ धारि हैं अतः कल्याण रस जीवन का धारि रस है। धारि की उपस्थिति में या ध्यानात्मक निर्दिष्ट रहता है वही ध्यानात्मक जीवन में कल्याण का ध्यानात्मक प्रतिपादन करने धारि ध्यानात्मक में प्राप्त होता है। भारत में दुःखवाद का ध्यानात्मक प्रदान बौद्ध दर्शन में ही हुआ है अतः कल्याण रस का यह ध्यानात्मक समाधान धारि वही में उपलब्ध हो सकता है।

यूरोप के दर्शन तथा ध्यानात्मक-ध्यानात्मक में ध्यानात्मकों ने प्रस्तुत ध्यानात्मक के धारि इसी प्रकार के समाधान उपस्थित किये हैं। जर्मनी के ध्यानात्मक दुःख धारि ध्यानात्मक ध्यानात्मक का धारि है कि काम्यी जीवन के ध्यानात्मक धारि ध्यानात्मक धारि का ध्यानात्मक धारि है। जीवन की ध्यानात्मक एवं कल्याण धारि की ध्यानात्मक धारि का ध्यानात्मक धारि का ध्यानात्मक धारि है। म्याय की वही ध्यानात्मक धारि के ध्यानात्मक का धारि है। ध्यानात्मक का धारि ध्यानात्मक धारि है—उत्सव

अनुसार वासुदेवी के द्वारा हमारे मन में इस चेतना का उदय होता है कि पार्थिव जीवन का संभ्रामन किसी अदृष्ट शक्ति (नियति) क हाथ में है, जिसके समस्त मानव का समस्त बस-बैभव तुल्य है। यह विचार एक भोर अहंकार का समन करता है तथा दूसरी भोर दुःख में हमें नैर्घ प्रदान करता है। जीवन क इस घसीकिक विधान की अनुभूति निश्चय ही एक उदात्त एवं सुखद ज्ञान है और यही आसब धामन्व का रहस्य है। प्रो० बुधर ने भरत्यू के विवेचन में इस सिद्धान्त का भी अनुसन्धान कर लिया है। यहाँ भी हमारा मत यही है कि भरत्यू के प्रासदी-प्रकरण में इसका बीज-भाव मिलता है उसका विकास प्रो० बुधर ने परवर्ती शोधों के आधार पर किया है—जिस विकसित रूप में बुधर ने उसे प्रस्तुत किया है वह भरत्यू में निश्चय ही उपलब्ध नहीं है। भारतीय चिन्तक के लिए यह धारणा अज्ञात नहीं है—साहित्य में इस 'नियतिवाद' की सत-शत गामिक व्यवनाए मिलती हैं। रामायण महाभारत पुराण भक्ति-काम्य और प्राबुमिक साहित्य में इसकी अनुगूण स्वान-स्वान पर मिलती हैं। न जाने कब से भारतीय मन यह गा-गाकर अपने को धीरज देता चला आ रहा है

करम गति टारे नाहिं टरी ।

मुनि बसिष्ठ से पीडित ज्ञानी सोधि के जगन धरी ।

सीता-हरण मरन दशरथ को जग में बिपत परी ॥

परन्तु अन्तर केवल यही है कि इस धारणा ने काम्य-शास्त्र के सिद्धान्त का रूप कमी धारण नहीं किया।

क्यों ?—भारतीय काम्य-शास्त्र के प्राच्य रस-सिद्धान्त के विरुद्ध होने के कारण।

साहित्य में आत्माभिव्यक्ति

कुछ बय हुए एक प्रगतिवादी मित्र ने मुझपर अनन्य धारों के साथ एक धाराप यह भी समझा था कि मैं साहित्य में सामाजिक पूर्णों का विरोध करता हुआ यहूदाद का पोषण करता हूँ।—प्रायः उसीको लेकर जब मैं साहित्य निरीक्षण करने बैठता हूँ तो एक प्रश्न मेरे मन में अनिवार्य उठता है— साहित्य का मूल धर्म क्या है? और अनेक पण्डित मित्रों की बिनाबी युक्तियों के बावजूद इसका उत्तर अब भी मेरे पास एक ही है— 'आत्माभिव्यक्ति'। जैसा कि मैं अनेक प्रश्नों में अनेक प्रकार से व्यक्त करना चाया हूँ आत्मा भिव्यक्ति ही वह मूल तत्त्व है जिसके कारण कोई व्यक्ति साहित्यकार और उसकी प्रति साहित्य बन पाती है। विचार करने के बाद मनान्त में कहना दो तत्त्वों का ही अस्तित्व संत में मानना पड़ जाता है—आत्म और अनात्म। इस माध्यम का विरोध को दिसाघों से हो सकता है—एक अद्वैतवाद की ओर और दूसरा भौतिकवाद (इन्द्रियमय भौतिकवाद) की ओर से। अद्वैतवाद प्रकृति प्रपञ्च अनात्म को भ्रम कहता है। और भौतिकवाद आत्म को प्रकृति की उत्पत्ति मानता हुआ उसकी स्वतंत्र मत्ता स्वीकार नहीं करता। परन्तु ब्रह्मण्ड में ये दोनों ही दर्शन की अरम स्थितियाँ हैं—और व्यावहारिक तल पर दोनों ही उत्पन्न ईश को स्वीकार कर लेते हैं। अद्वैतवाद साधना और अद्वैत हार के लिए जीवन और अमृत की महत्ता को अनिवार्य स्वीकार कर लेता है और अद्वैत भौतिकवाद भी आत्मा को चाहे वह कितना ही भौतिक और प्रकृतिक क्यों न माने व्यावहारिक जीवन में व्यक्ति और आत्मा के पारस्परिक का ता मानता ही है। साहित्य का सम्बन्ध आधुनिक प्रतिवादी से न होकर जीवन से है अतएव उसके लिए यह ईश-स्वीकृति अनिवार्य है चाहे अद्वैत 'जीव और प्रकृति' कह लीजिए या व्यक्ति और आत्मा के पारस्परिक सम्बन्ध के लिए। अतएव अनेक नाम हैं—मैं और मेरे प्रतिरिक्त और जो कुछ है उसको व्यक्त करना ही उनकी वाचकता है। 'आत्म और अनात्म' शब्द इनमें सबसे कम

पारिभाषिक है इसलिए हमने इन्हें ही ग्रहण किया है। वर्तन में बोड़े-बहुत पारिभाषिक अन्तर से इन्हें ही जीवन और जगत्—आध्यात्मिक मनोविज्ञान में महं और इत्थं विज्ञान में व्यक्ति और वातावरण कहा गया है। एक तीसरा तत्त्व ईश्वर भी है और मेरा संस्कारी मन उसके अस्तित्व का निषेध करने को प्रस्तुत नहीं है परन्तु उसको मैं धारम से पृथक् वस्तुत्प में नहीं ग्रहण कर पाता। धारम सतत प्रयत्नशील है—वह अनारम के द्वारा अपने को अभिव्यक्त करने का सतत प्रयत्न करता रहता है—इसीको हम जीवन कहते हैं। अनारम अनेक रूप बासा है—उसीके विभिन्न रूपों के अनुसार वह प्रबल भी अनेक रूप धारण करता रहता है—दूसरे सभ्यों में आत्माभिव्यक्ति के भी अनेक रूप होते हैं। इनमें धारम की जो अभिव्यक्ति शब्द और धर्म के द्वारा होती है उसका नाम साहित्य है। जब हम अपनी इच्छा को कर्म में प्रतिफलित कर पाते हैं तो हमें कर्म द्वारा आत्माभिव्यक्ति का आनन्द मिलता है। मैं जो चाहता हूँ वह कर रहा हूँ—यह कर्म द्वारा आत्माभिव्यक्ति है—इसमें विशेष भौतिक व्यवहारों के द्वारा मैं धारम का प्रतिनिधित्व या आत्मावग कर रहा हूँ। इसी प्रकार जब हम अपने अनुभव को शब्द और धर्म द्वारा अभिव्यक्त कर पाते हैं तो हमें एक दूसरे माध्यम के द्वारा आत्माभिव्यक्ति का आनन्द मिलता है। यह माध्यम पहले की अपेक्षा स्पष्ट ही अधिक सूक्ष्म और सीधा भी है—सीधा इसलिए है कि हमारा अनुभव बिना शब्द-धर्म की पकड़ में धामे कोई रूप ही नहीं रखता—जब तक वह शब्द और धर्म की पकड़ में नहीं आता उसका अस्तित्व संवेदन (Scemtions) से पृथक् कुछ भी नहीं है—उसका वैशिष्ट्य तभी व्यक्त होता है जब वह शब्द और धर्म में बंध जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि अनुभव को शब्द-धर्म-रूपी माध्यम की अनिवार्य अपेक्षा रहती है—इच्छा और कर्म का सम्बन्ध अनिवार्य नहीं है परन्तु अनुभव और शब्द-धर्म का सम्बन्ध सर्वथा अनिवार्य है।

सारा प्रबल स्वभावतः यह उठता है कि इस आत्माभिव्यक्ति का मूल क्या है—लेखक के अपने लिए उसकी क्या सार्थकता है और दूसरों के लिए उसका क्या उपयोग है ? तो जहाँ तक लेखक का सम्बन्ध है, आत्माभिव्यक्ति की सार्थकता उसके आत्म-परिचय में है—काव्य-शास्त्रों ने जिसे सृजन-मुक्त कहा है। अपने को पूर्णता के साथ अभिव्यक्त करना—चाहे वह कर्म द्वारा हो धनवा वाली बात या किसी भी अन्य उपकरण के द्वारा हो व्यक्तित्व की सबसे बड़ी सफलता है। बाली में कर्म की अपेक्षा स्मृतता और व्यावहारिकता कम तथा सूक्ष्मता और आंतरिकता अधिक होती है अतएव बाली के द्वारा जो आत्माभिव्यक्ति होती उसके आनन्द में सूक्ष्मता और आंतरिकता स्वभावतः ही अधिक होती—दूसरे सभ्यों में यह आनन्द अधिक परिष्कृत होता। अतः

निष्कर्ष यह निकला कि यह आत्मनिष्पत्ति सेवक को एक गृह्यतर परिष्कृत धानन्द प्रदान करती है। मूढ जैसे व्यक्ति को तो जो धामन्द को जीवन की जरूरत उपयोगिता मानता है इसके भाग और कुछ पूछना नहीं रह जाता। परन्तु उपयोगितावादी यहाँ भी प्रश्न कर सकता है कि धार्मिक इन परिष्कृत धानन्द की ही ऐसी क्या उपयोगिता है? इसका उत्तर यह है कि इसके द्वारा सेवक के धर्म का संस्कार होता है—उसकी कृतियों में नोमसता तत्त्व सामंजस्य सुख-साहकता अनुभूति-लभता आदि गुणों का समावेश होता है और उसका स्वतंत्रत्व संपूर्ण होता है। धर्म और धर्म धारण्य आंतरिक उपकरण हैं उनके द्वारा जो सफल आत्मनिष्पत्ति होगी उनमें निरक्षमता अधिवायं बर्तमान रहेगी (क्योंकि बिना उनके आत्मनिष्पत्ति सफल हो ही नहीं सकती)—और उपयोगिता की दृष्टि से निरक्षमता मानव-मन की प्रमुख विकृतियों में से है। धर्म गुण तो बहुत कुछ व्यक्ति-संप्रेष हो सकते हैं—धर्मात् कवि के अपने व्यक्तित्व के अनुसार व्युत्पन्न हो सकते हैं, परन्तु निरक्षमता प्रत्येक दशा में साहित्यगत आत्मनिष्पत्ति के लिए अधिवाय होगी—सफल उपयोगिता की दृष्टि से भी बड़ी सरलता से यह कहा जा सकता है कि यह आत्मनिष्पत्ति सेवक को (चाहे उसमें जैसे ही गुणों क्यों न हों) अपने प्रति ईमानदार होने का मुख देती है और इस प्रकार अधिवाय रूप से उसके व्यक्तित्व का संस्कार करती है।

यही एक और शक का समाधान कर सेवा उचित होगा—यह यह कि कहीं इस आत्मनिष्पत्ति के द्वारा धर्मकार का पोषण तो नहीं होता। इसके उत्तर में मरा निवेदन है कि धर्मकार और यह दो भिन्न वस्तुएँ हैं—धर्मकार जहाँ स्वभाव का एक दोष है वहाँ धर्म समस्त कृतियों की मर्यादा का नाम है—जिसे धर्मकारों में धारण भी करते हैं—साहित्यगत आत्मनिष्पत्ति जीवन की सभी परिस्थितियों की भाँति धर्म धर्मात् धारण का पोषण तो निरक्षय ही करती है, परन्तु धर्मकार का पोषण उनके द्वारा संभव नहीं क्योंकि उनके लिए जैसा कि मैंने अभी कहा निरक्षमता अधिवाय है। निरक्षम आत्मनिष्पत्ति धारण साक्षात्कार के धर्मों में ही संभव हो सकती है—और आत्मसाक्षात्कार में धर्म के लिए स्थान वहाँ? अधिवाय ने इसीलिए रख को उत्तम प्रकृति कहा है और उनके लिए तपोगुण और रजोगुण के ऊपर सतोगुण का प्राधान्य धारण्यक माना है। उन दिन इसी विषय पर श्री जैनेन्द्रगुप्त से बातचीत हो रही थी। उनका कहना था कि साहित्यकार का धर्म स्वभावतः धर्मवत् तीव्र होता है—यहाँ तक कि वह उसके मारे परेशान रहता है। साहित्य-मनन द्वारा वह इसी धर्म के धर्मिक पाने का प्रयत्न करता है—अपनी सृष्टि में वह हम धर्म (धर्मकार)।

१. धर्म की रीतों का धारण रूप में ही प्रयोग कर रर के।

हुमा उनसे व्यक्तियों को समृद्ध बनाता है—जीवन में रस उत्पन्न करता है पराजय और क्वांति की धबधबा में छांति और माधुर्य का संभार करता है। इस प्रकार की निरद्वय धारमाभिव्यक्तियों ने सामाजिक चेतना का कितना संस्कार किया है इसका अनुमान लगाना आज कठिन है। हिंदी की रीति-कविता को ही सीखिए—आज उसे प्रतिक्रियावादी कविता कहकर जाहिर किया जाता है और एक दृष्टि से आरोप सर्वथा उचित भी है परंतु उसके मधुर छंदों ने परामर्श-सूत्र समाज की क्रोमल वृत्तियों को सरल रखते हुए उसकी जड़ता को दूर करने में अत्यंत महत्वपूर्ण योग दिया था इसका निवेश क्या आज कोई समाज-शास्त्री कर सकता है? बड़े-बड़े सोचनापनों ने अपने संबन्ध-स्मांत मन को इसीकी संजीवनी से सरस किया है। लेकिन जब समाजवादी नेता पर पुदिनल की वैयक्तिक अभिव्यक्तियों का कितना गहरा प्रभाव था इसको वह स्वयं मिला गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि लेखक की निरद्वय धारमाभिव्यक्ति के द्वारा जो परिष्कृत धारमंद प्राप्त होता है वह स्वयं एक बड़ा बदलाव है—नैतिक एवं सामाजिक मूल्य से स्वतंत्र भी उनका एक स्वतंत्र महत्त्व है, जिसको तुच्छ समझना स्पृह बुद्धि का परिचय देना है।

परंतु मैं नैतिक एवं सामाजिक मूल्य का निवेश नहीं करता। जीवन में नीति और समाज की सत्ता अंतर्भव है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है सामूहिक हित उसके अपने व्यक्तिगत हितों से निश्चय ही अधिक महत्वपूर्ण है समाज की सब-सक्ति व्यक्ति की अपनी शक्ति की अपेक्षा निश्चय ही अधिक प्रबल है। समाज के संगठन और हितों की रक्षा करने वाले नियमों का संकलन ही नीति है। समाज के प्रत्येक व्यक्ति को उसकी अपेक्षा करनी होगी। सबके मनुष्य-रूप में समाज का अधिकार्य धर्म है—साधारण व्यक्ति को अपेक्षा उसमें प्रतिभा अधिक है अतएव उसी अनुपात से उसका दायित्व भी अधिक है। जिन समाज ने उसे जीवन के उपकरण दिए, बौद्धिक और भावगत परंपराएं दीं उसका ऋण-शोध करना उसका धर्म है। इसने स्वार्थ-साधना की अनुचित भूमि से उठकर उसके मां मां का उन्नयन और विस्तार होता है और इस प्रकार उसको अम्युर्य और निःश्रेयस् दोनों की ही सिद्धि होती है। परंतु ये सब तर्क नैतिक हैं साहित्यिक नहीं। उपर्युक्त कथन-निष्कर्ष सामाजिक का है मरण का नहीं। और स्पष्ट शब्दों में सामाजिक के रूप में लेखक निस्संदेह अनुपुक्त दायित्व से बंधा हुआ है—और उसने निर्बाह में यदि भुटि करता है तो वह नैतिक दृष्टि से अपराधी है परंतु लेखक के रूप में उसके ऊपर इस प्रकार का बोध नहीं है लेखक-रूप में उसका दायित्व केवल एक है—निरद्वय धारमाभिव्यक्ति। समाज का विरस्तार करने से उनके धारम को छति होगी और उसी अनुपात से उसके साहित्य के बस्तु-तत्त्व की भी हानि होगी परंतु जब

तक वह निरक्षर भारताभिव्यक्ति करता रहेगा उसकी कृति मूर्खहीन नहीं हो सकती। क्योंकि निरक्षरता का साहित्यिक भ्रान्तव वह तब भी अपने को और अपने समाज को डे सकेगा। इसी तथ्य को दूसरे प्रकार से भी प्रस्तुत किया जा सकता है। एक व्यक्ति है जो सामाजिक दायित्व के प्रति अत्यन्त सचेत है—व्यक्तिक स्वार्थ-साधन को छोड़ समाज-सेवा में ही वह भविष्यसमय व्यतीत करता है। उसका व्यक्तित्व बहुत कुछ सामाजिक एवं सार्वजनिक हो गया है। समाज के लिए उसने बहुत-कुछ बलिदान किया है उसकी धारा में शक्ति है। और मान लीजिए, यह व्यक्ति सेलक भी है, परन्तु यह धारक नहीं है कि उसका साहित्य एक दूसरे व्यक्ति के साहित्य से जिसके व्यक्तित्व में सामाजिक कुछ नहीं है, अनिर्धारित उत्कृष्ट ही होगा। उत्कृष्ट होने के लिए उसमें एक और गुण होना चाहिए—निरक्षर भारताभिव्यक्ति। भारताभिव्यक्ति के दो धर्म हैं—एक धर्म और दूसरा उसकी निरक्षर अभिव्यक्ति इनमें भी निरक्षर अभिव्यक्ति अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि उसके बिना कृति को साहित्य होने का औरत नहीं मिल सकता। धर्म भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। अभिव्यक्ति की निरक्षरता समस्त होने पर धर्म की परिभाषा ही सापेक्षिक महत्व का निर्णय करेगी। वास्तव में महान् साहित्य की सर्वना उसी सेलक के लिए सम्भव है जिसका धर्म महान् हो। जब तक उसका धर्म महान् धर्म उन्नत व्यापक और यन्त्री नहीं है तब तक उसकी कृति महान् नहीं बन सकती—मैं यह भी स्वीकार करता हूँ कि धर्म का यह उन्मत्त विस्तार और गोभीय व्यष्टि के नृत्य से निकसकर समष्टि के साथ तादात्म्य करने से ही बहुत-कुछ सम्भव है। (विश्व-कवियों के जीवन में इस प्रकार का तादात्म्य सर्वत्र रखा है।) परन्तु इस विषय में मेरे दो निवेदन हैं—एक तो यह कि इतना सब कुछ होते हुए भी अभिव्यक्ति की निरक्षरता ही साहित्य का पहला और अनिर्धार्य तत्त्व है। महान् व्यक्तित्व के अभाव में कोई कृति महान् साहित्य नहीं हो सकती पर निरक्षर अभिव्यक्ति के अभाव में तो वह साहित्य ही नहीं रहती केवल व्यक्तित्व की महत्ता उसे साहित्य का औरत नहीं दे सकती। दूसरा यह कि व्यक्तित्व की महत्ता धर्म उन्नत उसका विस्तार और गोभीय जीवन के महत्तर मूर्खों के साथ तादात्म्य करने से प्राप्त होता है और ये महत्तर मूर्ख अन्त में बहुत कुछ समष्टि त्त मूर्ख ही होते यह ठीक है। परन्तु इसका निर्णय स्मृत दृष्टि से बाह्य (सामाजिक और राजनीतिक) परिदृश्यों को सामने रखकर नहीं करना होना बल्कि व्यापक और सूक्ष्म अद्यतन पर देश और काल की सीमाओं को तोड़कर बहुताई हुई असाध्य मानव-वैतना के प्रकाश में ही करना होगा। प्रत्येक युग और देश अपनी समस्याओं में खोया हुआ इस समय का ठिठकार कर सामयिक धारकताओं के अनुसार साहित्य पर भी धारकधरे निर्णय देना रहा है, परन्तु

इतिहास सादी है कि ये निर्णय प्रस्थापी हो रहे हैं। सामयिक आवश्यकताएं पूरी हो जाने पर उस प्रसंग मानव चेतना ने तुरन्त ही अपनी धर्मिता का परिचय दिया है, और उन निर्णयों में उचित संशोधन कर दिया है। 'समय ही साहित्य का सबसे बड़ा आलोचक है' यह मान्यता उद्युक्त तथ्य की ही स्पष्ट स्वीकृति है। यही प्रसंग मानव चेतना की बात सुनकर पापक भाव और उठें परतु मैं पापका विद्वान् दिलाता हूँ कि यह बड़ा निर्दोष धर्म है इसके द्वारा मैं किसी साम्यारिभक तत्त्व की ओर रहस्य-संकेत नहीं कर रहा। एक युग और एक देश की चेतना से भिन्न जो युग-युग और देश-देश की व्यापक चेतना है उससे मेरा धर्मिप्राय है। ऐसी चेतना साम्यारिभक रहस्य न होकर एक भौतिक तथ्य ही है।

पारिभाषिक शब्दावली की सहायता लेकर कहा जा सकता है कि एक युग और देश की चेतना का संबंध राजनीतिक अथवा सामाजिक-नैतिक मूल्यों से है और युग-युग तथा देश-देश की चेतना का संबंध मानवीय मूल्यों से है। इन दोनों में साधारणतः कोई संविरोध नहीं है। वास्तव में मानवीय मूल्यों में सामाजिक नैतिक मूल्यों का अन्तर्भाव ही जाता है परन्तु विभिन्न परिस्थितियों में यदि विरोध हो भी जाय तो मानवीय मूल्य ही धर्मिक विश्वसनीय माने जाएंगे।

अनुसंधान और आलोचना

यों तो भारतीय ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में अनुसंधान की परम्परा अत्यंत प्राचीन है किन्तु हिन्दी में इसका पारिभाषिक रूप पिछले दो दशकों में ही स्वरूप हुआ है। आज इसका प्रयोग अंगरेजी शब्द 'रिसर्च' के पर्याय रूप में होता है और एक विशेष प्रकार की प्रक्रिया एवं उपसम्पि इसके साथ नियमित रूप से सम्बन्ध हो गई है। सख्य नेद से अनुसंधान के स्वरूप को भेद करने जाते हैं—सोपाधि और निरुपाधि। वस्तुतः यह विभाजन सर्वथा स्वरूप है। अनुसंधान के प्रयोजन प्रक्रिया एवं उपसम्पि की दृष्टि से दोनों में कोई मौलिक अंतर नहीं है। अर्थात् उपाधि तो केवल एक आनुपूर्विक तथा व्यावसायिक छिद्र है। उससे अनुसंधान की धारणा उपाधि-ग्रस्त ही होती है इसीलिए उसके लिए 'सोपाधि विशेषण ही उपयुक्त है। फिर भी हम सभी सोपाधि बह्य के ही रूप हैं अतः अपने आचरण के अंतर्गत उपाधि-सापेक्ष रूप ही हमारे विवेचन का उचित विषय बन सकता है।

उपाधि-सापेक्ष अनुसंधान के लिए प्रायः निम्नलिखित उपबन्धों का विधान है

(१) इसमें (अनुसन्ध) तथ्यों का अन्वेषण अथवा (उपसम्पि) तथ्यों या सिद्धान्तों का नवीन रूप में आख्यान होना चाहिए। प्रत्येक स्थिति में यह अन्वेषण का उचित होना चाहिए कि अन्वेषण में आलोचनात्मक परीक्षण तथा सम्यक् निर्णय करने की क्षमता है। अन्वेषण को यह भी स्पष्ट करना चाहिए कि उसका अनुसंधान किन अर्थों में उसके अपने प्रयत्न का परिणाम है तथा वह विषय विशेष के अन्वेषण को कहां तक और आगे बढ़ाता है।

(२) निरूपण-सूची आदि की दृष्टि से भी इस अन्वेषण का रूप-आकार संतोषप्रद होना चाहिए जिससे कि इसे यथावत् प्रकाशित किया जा सके।

(भागल पुनिबसिटी पी-एच-डी० नियमावली पृ ४)

प्राये चमकर डाक्टर आर्य अर्च के प्रसंग में भी प्रायः इसी विशेषताओं

का उत्प्रेक्ष है—केवल एक बात नहीं है? वहाँ 'विषय के अध्ययन को और ध्याने बढ़ाने' के स्थान पर 'ज्ञान-क्षेत्र का सीमा-विस्तार' अपेक्षित माना गया है। श्री० मिट० की उपाधि की मुद्रा को देखते हुए यह उपलब्ध उपलब्ध ही है। अन्य विश्वविद्यालयों के नियमों में भी लगभग ये ही शब्द हैं। इस प्रकार विश्वविद्यालय-विधान के अनुसार धनुसंधान के तीन तत्व हैं

१—धनुसंधान तथ्यों का अध्ययन

२—उपलब्ध तथ्यों अथवा सिद्धान्तों का पुनरावधान

३—ज्ञान-क्षेत्र का सीमा-विस्तार, अर्थात् मौलिकता

४—नए अतिरिक्त एक तत्व और भी अपेक्षित है और वह है मुद्रा प्रतिपादन-शैली।

धनुसंधान के इन चार मुकों में से मौलिकता तथा प्रतिपादन-शैली तो बाह्यम के प्रायः सभी रूपों के लिए समान हैं, नवीन तथ्यों का अध्ययन और उपलब्ध तथ्यों या सिद्धान्तों का नवीन आख्यान—य दो मुक्त धनुसंधान के ध्यान विधि धर्म हैं। विश्वविद्यालयों का विधान इन दो में एक को अनिवार्य मानता है इसीलिए संबंधित धनुसंधान में विश्वविद्यालय 'या' का प्रयोग किया गया है। प्रश्न हो सकता है कि नवीन तथ्यों का अध्ययन तो ठीक है किन्तु उपलब्ध तथ्यों या सिद्धान्तों का आख्यान धनुसंधान के अंतर्गत क्यों माना जाए। इसका एक सीधा उत्तर यह है कि केवल आख्यान धनुसंधान नहीं है 'अन्य' आख्यान धनुसंधान है नवीनता ही यहाँ भी प्रयुक्त है। तथ्यों के आख्यान का बालविक्रम धर्म है तथ्यों के परस्पर सम्बन्ध का उद्घाटन—उनके द्वारा व्यक्त जीवन-मूल्य या मानव-मूल्य का उद्घाटन। तथ्य अपने बस्तु रूप में जड़ है किन्तु मानव-जीवन के संदर्भ में—अर्थात् मानव-जनता के संसर्ग से वह वैतन्य बन जाता है मानव-वेतना के संसर्ग में जो एक नवीन धर्म ज्योति उभरने का कारण है उमीको धार्मिकारिकों ने व्यञ्जना कहा है। बालव में तथ्यों के आख्यान का धर्म इसी निहित व्यञ्जना को विहित करना है। यद्यपि व्यञ्जना का रूप तथ्य रूप अधिष्ठा पर अधिन रहने के कारण अतः सनीम ही होता है किन्तु अपनी सीमा के भीतर भी उसमें अनेक धर्म-धाराओं की सम्भावना निहित रहती है। इन धर्म धाराओं के कारण ही तथ्य के नवीन चिर-नवीन आख्यान की सम्भावना बनी रहती है और इसलिए धनुसंधान के लिए पूरा अवकाश रहता है। इस दृष्टि से तथ्यों का नवीन आख्यान अथवा पुनरावधान भी धनुसंधान के अंतर्गत माना है।

ध्यानाध्याय की मुद्रा के लिए भी संसर्ग में तथ्याध्ययन और तथ्याख्यान का अंतर और स्पष्ट करना आवश्यक समझना है। मूल्य के प्रत्येक रूप के माप अनेक तथ्य सम्बन्ध रहते हैं—सत्य के इस रूप विशेष को स्पष्ट करने के लिए

इन प्राचार्यभूत तथ्यों की उपलब्धि आवश्यक है। इनमें से कुछ तथ्य तो विहित रहते हैं किन्तु अनेक तथ्य प्रायः निहित रहते हैं—अथवा काल के प्राचरण में मुप्त हो जाते हैं और उनका अन्वेषण आवश्यक हो जाता है। तथ्यानुसंधान प्रायः कास-सापेक्ष-सा बन गया है और यह चारणा बढमुम हो गई है कि तथ्यानुसंधान प्राचीन विषयों की सोच में ही सम्भव हो सकता है। किन्तु यह प्राचारणतः माय्य होते हुए भी आवश्यक नहीं है—क्योंकि प्रत्येक विषय में अनेक निहित तथ्य भी तो होते हैं। भरे कहने का अभिप्राय यह है कि तथ्यानुसंधान के सामान्यतः दो रूप हैं—(१) कास के प्रवाह में मुप्त तथ्यों का अन्वेषण और (२) विषय में निहित तथ्यों का अन्वेषण। उदाहरण के लिए तुलसी के युग की परिस्थितिमा उनके जीवन की बटनाएँ उनकी रचनाएँ, उन रचनाओं की अनेक प्रतिमा उनके निर्माण से सम्बद्ध स्थितियाँ आदि तुलसी-विषयक अनुसंधान के अनेक बहिरंग तथ्य हैं जो कास-सापेक्ष हैं—अर्थात् काल के प्रवाह में से जिन्हें ढूँढकर निकालना पड़ता है। इनके अतिरिक्त तुलसी के काव्य में निहित अनेक अंतरंग तथ्य हैं—जैसे तुलसी के धारम-कर्म दार्शनिक विचार, नैतिक विचार शैली के तत्त्व, माया के तत्त्व सम्बन्ध-समूह आदि जो आंतरिक अन्वेषण की अपेक्षा करते हैं। दोनों अन्वेषण-प्रक्रियाएँ तथ्यानुसंधान के अंतर्गत आती हैं और चूँकि प्राचीन तथा नवीन दोनों प्रकार के साहित्य के अनुसंधान में इनका न्यूनाधिक प्रयोग सम्भव है अतः तथ्यानुसंधान की सम्भावना को प्राचीन साहित्य तक ही सीमित करना उचित नहीं है। यह ठीक है कि मैजिस्तीशरस मुप्त या प्रसाद की जीवन-बटनाओं की जानकारी के लिए प्राचीन राजपत्र हस्तलेख, शिलालेख आदि की छायाबीन की आवश्यकता नहीं है उनकी रचनाओं के अनेक पाठों का तुलनात्मक अध्ययन सर्वथा अनावश्यक है, उनकी युगीन परिस्थितियों के प्राकलन के लिए भी गहरी छायाबीन की जरूरत नहीं है परन्तु इनके अतिरिक्त भी ऐसे अनेक तथ्य रह जाते हैं जिनका अन्वेषण उतना ही यत्न-साध्य है जितना तुलसी काव्य से सम्बद्ध तथ्यों का हो सकता है। यहाँ तक तो हुई तथ्यानुसंधान की बात।

—अब इसके अन्वेषण तथ्याख्यान को लीजिए। उपर्युक्त सभी तथ्य चाहे वे बहिरंग हों वा अंतरंग केवल प्राकार हैं। उदाहरण के लिए प्राचीन राजपत्रों में तुलसी विषयक उल्लेख प्राचारमात्र हैं वास्तविक उपलब्धि तो उनके द्वारा व्यंजित तुलसी का जीवन-चरित ही है। इस प्रकार उपर्युक्त उल्लेख तथ्य हैं और उनके द्वारा तुलसी के जीवन-चरित की व्यंजना का स्पष्टीकरण इन तथ्यों का प्राख्यान है—यह व्यंजना अनेकरूपा हो सकती है और उसीके अनुसार प्राख्यान भी नवीन हो सकता है। तथ्याख्यान का यह अपेक्षाकृत सूक्ष्म रूप है। इसके अन्वेषण तुलसी की जीवन-बटनाएँ स्वयं तथ्य बन जाती हैं और फिर अनुसंधाना उनकी

अज्ञानियों का उद्धार करना है—अर्थात् उनके द्वारा व्यक्तिगत तुलसी-व्यक्तित्व के गुण-धर्मों का प्रकाशन करना है। यह तप्यास्वान का प्रथम उपाय है। प्रागे अज्ञान व्यक्तित्व के ये गुण-धर्म स्वयं तप्य बन जाते हैं और धनुमधान उनके आधार पर तुलसी की आत्मा का साक्षात्कार करने का प्रयत्न करता है। यह बहिरंग तप्यास्वान की प्रक्रिया है। अन्तरंग तप्यास्वान तुलसी के वाक्य का अन्त मानकर चलता है—बहु तुलसी की रचनाओं का क्रम निर्धारित करना है, उनमें निहित दार्शनिक एवं नैतिक विचारों का उनकी रीति-रिवाजों का भाषा के तर्कों—सन्दर्भ-समूह आदि का विश्लेषण करना है। यह सब भी अन्तर्गत तप्यानुसंधान के अंगगत ही प्राण्य—अन्तःकरण इतना है कि ये तप्य बहिरंग न होकर अन्तरंग ही दिव्य है ये तप्य ही। इनका ही आस्वान उठता ही आश्चर्य है अर्थात् ये भी अज्ञान है। इनका आस्वान का भी अर्थ होगा उनकी व्यक्तियों का स्पष्टीकरण। महारु तथा मंगल आदि भावों की प्रकृति रचनाएँ हैं और विनयविद्या परबर्ती—इस तप्य की उपमरिष महत्त्वपूर्ण है किन्तु साधन-रूप में ही अर्थात् इस तप्य के द्वारा व्यक्तिगत तुलसी के कवित्व-विशेष का महत्त्व और ही अधिक है और अन्तर्गत ही अधिक महत्त्वपूर्ण है इस अर्थ विद्या द्वारा व्यक्तिगत तुलसी की कवि-आत्मा का विकास। इसी प्रकार तुलसी की वाक्य-धर्मों के तर्कों का विश्लेषण तप्यानुसंधान मान है इन तर्कों के द्वारा व्यक्तिगत तुलसी-वाक्य के स्वभाव का अनुसंधान तप्यास्वान है उदाहरण के लिए रामायण विद्या की कृति तुलसीदास और उनकी कविता में तप्यानुसंधान की प्रकृति अधिक है और अज्ञान की प्रसिद्ध रचना 'गोस्वामी तुलसीदास' में तप्यास्वान का प्राधान्य है। तप्या के अन्तर्गत ही देवदेव अर्थात् धनुमधान प्रान्त करेगा—इसका क्या? और फिर उनके आधार पर अन्तर्गत आन्तरिक विद्या—वाक्य के अन्तर्गत उद्धारण में प्रवृत्त हो जाएगा। तुलसी के वाक्य में साधन-सूत्रक अन्तर्गतों को अन्तर्गत अन्तर्गत अन्तर्गतों में अधिक है—यह एक उदासीन तप्य है अन्तर्गत अज्ञान यह है कि तुलसी के वाक्य में अन्तर्गत की अन्तर्गत रम की प्रधानता है। प्रागे अज्ञान यह ही तप्य ही जाता है और इन महत्त्वपूर्ण अर्थों को अन्तर्गत करता है कि तुलसी की कविता का आस्वान अन्तर्गत-रूप है बुद्धि अन्तर्गत रूप नहीं है। इस प्रकार एक तप्य दूसरे अन्तर्गत तप्य की अज्ञान करता हुआ वाक्य के अन्तर्गत में प्रधानता देता है—यही तप्यास्वान है।

विद्या के अन्तर्गत में अन्तर्गत धनुमधान में आत्मज्ञानिक सम्बन्ध रहा है—अन्तर्गत विद्या के अन्तर्गत-अन्तर्गतों के साथ विचार-विनिमय के अन्तर्गत अन्तर्गत अन्तर्गत रहे हैं। इस विचार-विनिमय के अन्तर्गत धनुमधान के अन्तर्गत में अन्तर्गत अन्तर्गत अन्तर्गत है। एक बार अन्तर्गत के एक अन्तर्गत विद्या के अन्तर्गत एक अन्तर्गत अन्तर्गत अन्तर्गत

काष्ठ के प्रमुख आचार्य' पर आपत्ति करते हुए मुझसे कहा था कि इसपर 'बीसिस' जैसे सिद्धा वाएया—'बीसिस' से उनका आशय था एक विचार-सूत्र का अनुसंधान जिसमें प्रमुख आचार्यों की अनेकता शामिल थी। इसी प्रकार शोध मञ्चस की किसी बैठक में इतिहास के एक विद्वान् ने हिन्दी के एक प्रस्तावित विषय 'हिन्दी-काव्य के विकास में सिक्ख कवियों का योगदान' के प्रति विज्ञाता म्यक्त की कि इसके अंतर्गत अनुसंधान क्या शोध करेगा। मैंने उत्तर दिया कि यह सम्पूर्ण सामग्री धनी तक सर्वथा अज्ञात है—पहला शोधकर्ता इसका आलोचनात्मक सर्वेक्षण प्रस्तुत करेगा परन्तु अनुसंधान उसके आधार पर अंतरंग विश्लेषण करेगा। मेरे उत्तर पर अनेक अनुभवशील गिरीशकों की प्रतिक्रिया यह हुई कि आलोचनात्मक सर्वेक्षण अनुसंधान नहीं है—स्थिति स्पष्ट करने पर उन्होंने यह मान लिया कि सिद्ध-कवियों के शोधों का पाठानुसंधान और सम्पादन का अनुसंधान के अंतर्गत आ सकता है किन्तु आलोचनात्मक सर्वेक्षण नहीं सर्वेक्षण तो अनुसंधान की मूल प्रकृति के विरुद्ध है। वे दोनों ही प्रथम अनुसंधान के स्वल्प पर अवश्य प्रकाश डालते हैं। अंग्रेजी का एक शब्द है 'बीसिस' जो संस्कृत व्याकरण के 'प्रसिद्धा' शब्द का निकटवर्ती है—इसका अर्थ है कोई मौखिक प्रस्थापना-विशेष जिसको अनुगमन या नियमन विधि से सिद्ध किया जाता है। अनेक विद्वानों के अनुसार शोध-प्रबन्ध का प्राण यह प्रतिज्ञा और इसकी सिद्धि ही है—इसीलिए अंग्रेजी में शोध प्रबन्ध के लिए 'बीसिस' शब्द का प्रयोग ही बड़ हो गया है। इसमें संदिग्ध नहीं कि उत्तम शोध-प्रबन्ध में किसी न किसी प्रकार की प्रतिज्ञा और उसकी सिद्धि होगी चाहिए, उससे अनुसंधित विषय का सूत्र और उसी अनुपात से उपलब्ध सत्य का स्वल्प सर्वथा स्पष्ट हो जाता है। किन्तु इसकी सम्भावना सर्वत्र नहीं है। वास्तव में इस प्रकार का अनुसंधान जहाँ क्षेत्रों में सम्भव है, जहाँ अध्ययन काफी विकसित हो चुका है। जहाँ प्रारम्भिक कार्य ही नहीं—व्यवस्थित अध्ययन भी हो चुका है। बदायतन के लिए हिन्दी के अनुसंधान अतिक्रान्त तथा प्राधुनिक काल के अनेक कवियों पर इतना कार्य हो चुका है कि इस प्रकार की प्रतिज्ञात्मक शोध के लिए सब भूमि तैयार हो चुकी है और इस प्रकार का अनुसंधान-कार्य हो भी रहा है। पिछले वर्ष दो शोध-प्रबन्ध मैंने देखे—एक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पर था और दूसरा बिहारी पर। एक में यह प्रस्थापना की गई थी कि आचार्य शुक्ल का मूल जीवन-दर्शन है भावयोग और उनका सम्पूर्ण ब्राह्मण-आलोचना निर्बंध कविता आदि इसी भावयोग के दर्शन से अनुप्राणित है। दूसरे में यह प्रस्थापना की गई थी कि बिहारी का काव्य प्थनिकाव्य है और उसीके प्रकाश में सम्पूर्ण काव्य का आख्यान किया गया था। निश्चय ही यह अनुसंधान की उत्कृष्ट भूमि है—जहाँ शोधकर्ता अनेकता में एकता के

व्यक्त करती है। इसके उपरांत वह प्रतिक्रिया की प्रियता अथवा अप्रियता के कारणों का विश्लेषण करती है। सर्वप्रथम-शास्त्र के अनुसार स्व का मनोविज्ञान के अनुसार स्पष्ट और भावक की मानसिक परिस्थितियों का और समाजशास्त्र के अनुसार दोनों की सामाजिक परिस्थितियों का विश्लेषण कर यह स्पष्ट करती है कि कोई कलाकृति भावक को प्रिय अथवा अप्रिय क्यों लगती है। और, अंत में इन दोनों प्रक्रियाओं के आधार पर उसका मूल्यांकन किया जाता है। आलोचना के अंतर्गत ये तीन प्रक्रियाएँ आती हैं—किसी न किसी रूप में आलोचना इन तीनों कर्तव्यों का निर्वाह करती है। अन्वेषण का श्रेष्ठ हो सकता है किन्तु आलोचना में प्रायः इन तीनों में से किसीको उपेक्षा करना कठिन ही होता है।

अनुसंधान और आलोचना का परस्पर सम्बन्ध—उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अनुसंधान और आलोचना दोनों की केवल जाति ही नहीं अपजाति भी एक है। अतः दोनों में पर्याप्त साम्य है। दोनों की पद्धति बहुत-कुछ समान है। व्याख्या-विश्लेषण और निर्णय दोनों में समान है। अनुसंधान में जो तथ्या-स्थान है वही आलोचना में व्याख्या-विश्लेषण है। दोनों में विवेचन कार्य-कारण सूत्र का अन्वेषण परस्पर सम्बन्ध तथा अर्थ-अर्थना आदि का उद्घाटन समान रूप से रहता है। इसी प्रकार पक्ष-विपक्ष के संतुलन आदि के आधार पर निष्कर्ष और निर्णय की पद्धति दोनों में प्रायः समान ही है। तथ्य विश्लेषण के उपरांत तथ्य-रूप में निष्कर्ष ग्रहण करना सर्वथा आवश्यक होता है—उसके बिना तथ्य विश्लेषण का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। अतः निष्कर्ष तथा निर्णय का महत्त्व अनुसंधान और आलोचना दोनों के लिए समान रूप से मान्य है। उसके बिना विचार की प्रक्रिया पूरी नहीं होती। तथ्याधार अनुसंधान के लिए तो एकांत प्रतिचार्य है ही किन्तु आलोचना के लिए भी उसकी आवश्यकता का नियम नहीं किया जा सकता क्योंकि तथ्यों के पुष्ट आधार के बिना आलोचना में विश्वास की इच्छा नहीं आती।

यह सब होने पर भी अनुसंधान और आलोचना पर्याय नहीं है। मनो-विज्ञान से पुष्ट संस्कृत व्याकरण का यह नियम है कि कोई भी दो शब्द एक अर्थ का घोटन नहीं करते—उनमें कुछ न कुछ भेद अवश्य होता है। अनुसंधान की मूल धातु 'धा' में 'धम्' उपसर्ग लगाकर संज्ञान शब्द बनता है जिसका अर्थ होता है लक्ष्य वाचना दिग्गता लगाना और आलोचना की मूल धातु है 'लोच्' अर्थात् देखना। इसी मूल धात्वर्थ के आधार पर दोनों के अर्थ अर्थ में अनेक अन्तर भेद हो जाता है—एक का अर्थ हो जाता है लक्ष्य वाचक उसके पीछे बढ़ना और दूसरे का हो जाता है पूरी तरह से देखना परखना। यही दोनों के मौलिक भेद का आधार है। अनुसंधान में अन्वेषण

पर अधिक बल है और आलोचना में निरीक्षण-परीक्षण पर। यद्यपि ये दोनों तत्त्व भी एक-दूसरे से निरपेक्ष नहीं हैं—अभ्यपग बिना निरीक्षण-परीक्षण के कृतकार्य नहीं हो सकता और इसी तरह निरीक्षण-परीक्षण के लिए भी पूर्व क्रिया रूप में अभ्येपण की आवश्यकता प्रायः रहती है फिर भी धनुसंधान और आलोचना का योग पूर्णतः सह-भ्यापक नहीं है। धनुसंधान के प्रत्येक रूप ऐसे हैं जो कुछ आलोचना के अंतर्गत नहीं आते और आलोचना के भी कुछ रूपों को कुछ धनुसंधान मानने में वास्तविक आपत्ति हो सकती है। उदाहरण के लिए जीवनचरित-विषयक धनुसंधान पाठानुसंधान भाषाबैज्ञानिक धनुसंधान आदि रूप आलोचना के अंतर्गत नहीं आ सकते। इसका प्रामाण्य यह नहीं है कि इनमें आलोचना का प्रभाव रहता है प्रयत्न इन क्षेत्रों का धनुसंधान आलोचना शक्ति एवं निर्णय की क्षमता में सम्पन्न नहीं होता वास्तव में इन सभी क्षेत्रों में भी निरीक्षण-परीक्षण निष्कप-ग्रहण आदि उतने ही महत्वपूर्ण हैं जितने अभ्यपन परन्तु आलोचना का प्रयोग यहाँ हम साहित्यिक आलोचना (मिटरैरी क्रिटिसिज्म) के रूप धर्म में ही कर रहे हैं सामान्य धर्म में अर्थात् सामान्य निरीक्षण-परीक्षण के धर्म में नहीं। इसी प्रकार आलोचना के कुछ-एक रूप भी हैं जैसे प्रभावकारी आलोचना के विभिन्न प्रकार, जो धनुसंधान की गरिमा को बहन नहीं कर सकते। अतएव यह स्पष्ट है कि धनुसंधान और आलोचना के क्षेत्रों में पूर्ण सह-भ्यापित नहीं है।

अपने मंथन को और स्पष्ट करने के लिए पारिभाषिक धर्म में आलोचना के स्वरूप का और स्पष्ट कर मना चाहिए। मुझे स्मरण है कि एक बार हमारे किसी प्रत्यक्ष में एक सवाल था। आलोचना विज्ञान है या कला? मुझे पार नहीं उस समय मैंने क्या उत्तर दिया था, किन्तु आज मेरे मन में इसका उत्तर स्पष्ट है। आलोचना (अर्थात् साहित्यिक आलोचना) कला का विज्ञान है। विविष्ट शास्त्रावली में आलोचना न तो उम धर्म में उम का साहित्य है जिस धर्म में कविता उपन्यास कहानी आदि हैं और न उम धर्म में ज्ञान का साहित्य है जिस धर्म में वैज्ञानिकशास्त्र या मनोविज्ञान या तर्कशास्त्र हैं। यह तो अपने प्रामाणिक रूप में उम के साहित्य का शास्त्रीय या वैज्ञानिक अभ्यपन है। विषय का प्रभाव उमके विवेचन पर सबका अनिवार्य होता है—अर्थात् किसी विषय का विवेचन और उमकी विचार-पद्धति उमके आत्मभूत तत्त्वों के प्रभाव को ग्रहण किये बिना रह नहीं सकती क्योंकि विषय के तत्त्व उमका लक्ष्य आदि उमकी विवेचन-पद्धति को भी अनिवार्यतः अनुमानित करते रहते हैं। साहित्य के तत्त्व हैं धनुसंधान और कला—उमका प्राण है उम। अतः साहित्य यदि विवेचन पद्धति धर्मभूत धनुसंधान तथा कला और प्राणभूत उम के प्रभाव को बचा नहीं सकती। अतएव इसमें भी कला के तत्त्व—अर्थात् उम और उसका उद्वरण

अनुभूति तथा कल्पना आदि का अंतर्भाव अनिवार्यतः हो ही जाता है। इस प्रकार आलोचना में कला-तत्त्व अनिवार्यतः विद्यमान रहता है उसमें आत्मा मिश्रित किसी न किसी रूप में प्रबल्य रहती है। अनुसंधान के विषय में यह प्रस्ता नहीं किया जा सकता कि वह कला है या शास्त्र—वह निश्चय ही शास्त्र है। कला की उसके लिए उतनी ही प्रवेसा है जितनी शास्त्र के लिए क्योंकि शास्त्र की भी अपनी एक कला होती है एक शैली होती है जो बाह्यमय के अन्य रूपों से उसके रूप-बंधिष्ट्य को पुष्क करती है। अनुसंधान के उपबंध ४ में दिखित 'उपयुक्त' अथवा 'संतोषप्रद' रूप-आकार का अभिप्राय इतना ही है, इससे अधिक नहीं। उदाहरण के लिए निबंध की कलित मध-शैली अनुसंधान के लिए न 'उपयुक्त' होषी' और न 'संतोषप्रद'। निष्कर्ष यह है कि आत्मा-मिश्रित अथवा कला-तत्त्व साहित्यिक आलोचना का अनिवार्य गुण है किन्तु साहित्यिक अनुसंधान में उसका महत्व गौण ही रहेगा।

इसके विपरीत तथ्यान्वेषण तथ्यों का वस्तुपरक आस्मान वैज्ञानिक प्रविधि एवं प्रक्रिया अनुसंधान के लिए महत्वपूर्ण ही नहीं है बल्कि वे तो उसके प्राण-तत्त्व हैं। किसी न किसी प्रकार के—बहिरंग अथवा अंतरंग तथ्यों के सम्यक अन्वेषण के बिना अनुसंधान एक पग भी आगे नहीं बढ़ सकता। फिर इन तथ्यों के आस्मान में अनुसंधान की दृष्टि एकांत वस्तुपरक होगी चाहिए, जिससे तथ्य ही उसका निर्वेदन करें वह तथ्यों का निर्वेदन न करें। यों तो आलोचना के लिए भी निहित दृष्टि की बड़ी आवश्यकता है किन्तु अनुसंधान के लिए वह सर्वथा अनिवार्य है। अनुसंधान का मार्ग एकांत तपस्वियों का मार्ग है, उसके लिए अधिक कठोर संयम का विधान है। आलोचना के लिए इतने कठोर शैक्षिक ब्रह्मचर्य की आवश्यकता अभावित नहीं है। आत्मरस का यत्किचित् उत्सर्ग उसके लिए एकांत बन्धित नहीं है। इसी प्रकार वैज्ञानिक प्रविधि एवं प्रक्रिया अनुसंधान के लिए सर्वथा अनिवार्य है। संघर्ष आदि के पूर्ण विवरण, अनुक्रमणिका परिशिष्ट, अंश-सूची पाठ-टिप्पणियाँ आदि की व्यवस्था इसी प्रविधि के अंतर्गत आती है। वास्तव में यह प्रविधि या चिन्तन-विधान आलोचना के लिए भी अनुपयोगी नहीं है, किन्तु वहाँ इसका उतना अनिवार्य महत्व नहीं है। कुछ आलोचना में आलोच्य की आत्मा के साक्षात्कार के प्रति सेलक और पाठक का इतना आग्रह रहता है कि इस प्रकार के सूक्ष्म तथ्य विवरण की वह उपेक्षा कर सकता है वस्तुतः इनसे उसका अन्वेषण-मग होने की भी संभावना हो सकती है।

अनुसंधान और आलोचना का प्रत्यक्ष अन्वय भी एक नहीं होगा—अनुसंधान का सत्य यँसा कि हमने अभी सिद्ध किया जान-बूझि है किन्तु आलोचना का सत्य है ज्ञान की प्रवर्धित। जो अनुसंधान ज्ञान की दृष्टि में योग नहीं देता वह

विधानतः असफल है किन्तु धातोचना के लिए इतना पर्याप्त नहीं है—जो धातोचना काम्य की धारणा का साक्षात्कार नहीं कर सकती अर्थात् उसके सारभूत प्रभाव का सम्प्रेषण नहीं कर सकती कर्माकार के साथ प्रमाता का साक्षात्कार स्थापित नहीं कर सकती वह अपने मौखिक उद्देश्य की पूर्ति में असफल रहती है। अत्यन्त 'अज्ञान' के इसी भेद के कारण दोनों के 'धारम्भ' में भी स्पष्ट भेद हो जाता है। धातोचक का पहला धर्म है प्रभाव-ग्रहण अर्थात् धातोच्य के प्रति साधारण प्रतिक्रिया। धनुर्मंधान के लिए वह आवश्यक नहीं है—प्रायः बाधक भी हो सकती है, वह अपना कार्यात्मक तन्मय-संकलन से करता है जिसमें उसकी दृष्टि निर्रम्य रहनी चाहिए। इस प्रकार धनुर्मंधान और धातोचना के धारम्भ और अज्ञान में बाह्य भेद प्रबल है।

अब तक मैंने अत्यन्त तटस्थ भाव से धनुर्मंधान और धातोचना के साम्य और भेद का निरूपण किया है। यदि आपको आपत्ति न हो तो संक्षेप में अपने निष्कर्षों की प्राकृति करूँ जिससे धामे के विवेचन में सहायता मिल सके।

साम्य (१) धनुर्मंधान और धातोचना एक ही विद्या—साहित्य विद्या—के दो उपभेद हैं।

(२) दोनों की पद्धति बहुत-बहुत समान है। दोनों की प्रक्रिया में तन्मयों के संकलन—त्याग एवं ग्रहण व्याख्यान-विरूपण निष्कर्ष-ग्रहण का प्रायः उपयोग किया जाता है।

भेद (१) किन्तु धनुर्मंधान और धातोचना पर्याप्त नहीं हैं—धारण्य के धनुर्मंधान में अन्वेषण पर अधिक बल रहता है और धातोचना में निरीक्षण-गरीबता पर।

(२) धनुर्मंधान के अनेक रूप ऐसे हैं जो धातोचना के अंतर्गत नहीं आते और इसी प्रकार धातोचना क भी कतिपय रूप धनुर्मंधान के उपबंधों की पूर्ति नहीं कर पाते।

(३) धातोच्यव्यक्ति अथवा कर्मा-तत्त्व धातोचना का धनिधार्य गुण है, किन्तु धनुर्मंधान में उभय महत्त्व नीला ही रहेगा।

(४) वैज्ञानिक तटस्थता और उसकी धनुर्मंधान वैज्ञानिक प्रविधि एवं प्रक्रिया का महत्त्व धनुर्मंधान के लिए धनिधार्य है—धातोचना के लिए उभय महत्त्व परिष्कृत रूप में ही रहता है।

(५) धनुर्मंधान का अत्यन्त उद्देश्य है ज्ञान की कृति और धातोचना की सिद्धि है धर्म की प्रवृत्ति या धनुर्मूर्ति।

मुझे आशा है कि इस वैज्ञानिक-निरूपण से दोनों के विषय में आपकी मार्गदर्शक चारणाएँ और मानस-विम्व कोड़े-बहुत स्पष्ट प्रसरण हो सके होंगे। किन्तु यह तो पूर्वपक्ष है या आप यह कह सकते हैं कि यह हमारे धाम के

प्रतिपाद्य का तथ्याधार मात्र है। उत्तरपक्ष में मैं अपने से और आपसे एक प्रश्न करता हूँ क्या कुछ आलोचना अनुसंधान नहीं है? यह प्रश्न एक दूसरे क्षण से भी रखा जा सकता है क्या उत्तम आलोचना अनिवार्यतः उत्तम अनुसंधान नहीं है? यद्यपि क्या उत्तम साहित्यिक अनुसंधान अपनी जरम परिणति में आलोचना से भिन्न ही रहता है? साहित्यशास्त्र का विद्यार्थी होने के नाते मेरे पास इसका एक ही उत्तर है और वह यह कि उत्तम आलोचना अनिवार्यतः उत्तम अनुसंधान भी है और उत्तम साहित्यिक अनुसंधान अपनी जरम परिणति में आलोचना से अभिन्न हो जाता है। हिन्दी में आर्यी प्रभावमी की भूमिका उत्तम आलोचना का असन्दिग्ध प्रमाण है और साहित्यिक अनुसंधान का भी मैं उसे निश्चय ही अत्यन्त उत्कृष्ट उदाहरण मानता हूँ। यहाँ तो तथ्याधार भी अत्यन्त पुष्ट है इसलिये विवाद के लिए अवकाश कम है। सुकनबी के ऐतिहासिक निबन्धों को ही लीजिए। क्या हिन्दी काव्यशास्त्र के विकास में उनका अत्यन्त मौलिक योगदान किसी प्रकार संदिग्ध हो सकता है? यद्यपि क्या उनका शोध मूल्य किसी प्रकार कम है? आप कदाचित् हिन्दी के एक अग्य मान्य आलोचक का प्रमाण देकर मुझे निरुत्तर करना चाहेंगे। वे आलोचक हैं चाम्तिप्रिय द्विवेदी। वे निश्चय ही साहित्य के सर्वोत्तम आलोचक हैं किन्तु आप श्रीधरप्रबन्ध उनके सफल अनुसंधान होने में शक्य कर सकते हैं। इसके उत्तर में मेरा निवेदन है कि चाम्तिप्रियजी की जिन रचनाओं का शोध-महत्त्व संदिग्ध है उनका आलोचनात्मक मूल्य भी सर्वथा निर्विवाद नहीं है। प्रभाव-ग्रहण आलोचना का प्राथमिक धर्म होने पर भी प्रभाववादी-आलोचना प्रायः निम्न-कोटि की आलोचना ही मानी जाती है। चाम्तिप्रिय अपने चित्त को संवत और दृष्टि को स्थिर कर वहाँ प्राकृतिक काव्य—विशेषतः सामाजिक-काव्य—के धर्म का उन्मेष करने में सफल हुए हैं वहाँ उनकी आलोचनाओं का शोध-मूल्य भी असंदिग्ध है। सामाजिक ऐतिहासिक दृष्टि की विकृति अपने आप में महत्त्वहीन अनुसंधान नहीं है। धन दूसरा पक्ष लीजिए। मैं आपसे किसी ऐसे शोध-प्रबन्ध का नाम पूछना चाहूँगा जो आलोचनात्मक गुणों के अभाव में भी उत्तम अनुसंधान का प्रमाण हो। आप भाषा-विज्ञान यद्यपि ऐतिहासिक अनुसंधान के क्षेत्र से कदाचित् कुछ उदाहरण उपस्थित करेंगे किन्तु मैं तो साहित्यिक अनुसंधान की बात कर रहा हूँ। साहित्यिक अनुसंधान के क्षेत्र से भी धामय आप इस प्रकार के शोध प्रबन्धों के नाम देना चाहें। विशिष्ट उदाहरण न देकर इस प्रसंग में सामान्य रूप से मैं यही निवेदन करना चाहूँगा कि इस प्रकार के अकाद्य प्रमाण प्रायः दुर्लभ ही हैं। ऐसे प्रबन्ध जिनका मूल्य केवल तत्त्व-शोध पर आधारित है उत्तम अनुसंधान न होकर अनुसंधान के सदस्य-संबंधों के रूप में ही मान्यता प्राप्त कर सकेंगे। पश्चिम में और वहाँ के अनुकरण पर इस देश में

भी ऐस प्रयों का महत्त्व बढ़ रहा है। मैं इनका निषेध नहीं करता किन्तु ये सब ता अनुसंधान की सामग्री या समाधानमात्र हैं। हिन्दी में ऐसे महत्त्वपूर्ण प्रय हैं जिनके द्वारा प्रकृत नवीन सामग्री प्रकाश में आई है। उनमें हिन्दी-साहित्य और उसका अनुसंधान का निषेध हो बड़ा कल्याण हुआ है किन्तु इसका उन्हें आशा अनुसंधान मानने का आग्रह न कीजिए। ये तो उत्तम अनुसंधान के प्राक्क हैं। तत्त्व-दृष्टि से यदि हम विचार करें तो विद्या के सभी क्षेत्रों का एक ही उद्देश्य निर्धारित किया जा सकता है और वह है मर्याद की उपमर्श। मर्याद और तत्त्व में यह भेद है कि एक कर्मम बोध का विषय है और दूसरा अनुसंधान का। बोध का अर्थ है एन्द्रिय अथवा बौद्धिक प्रत्यय और अनुसंधान का अर्थ है मम का आशाकार। मम के आशाकार के लिए तत्त्व-बोध में आये अमरक तत्त्व के द्वारा अज्ञित मर्याद की प्रकृति आरम्भ है। यही आशाचना की परम परिणति है और मर्याद आग्रह है कि अनुसंधान की परम परिणति भी यही होनी चाहिए। तत्त्वविषयक विधान के उपबन्ध (२) तत्त्वों या सिद्धान्तों के नवीन आस्थान के अन्तर्गत यद्यपि इसका उद्देश्य विषय रूप में किया गया है किन्तु उसकी पर्यायशील में निश्चिन्त है कि यह अनुसंधान की उत्पत्तक मूर्ति है। इन मर्याद की सिद्धि के बिना अनुसंधान कर्मम तत्त्व-बोध का मापक आग्रह रह जाता है मर्याद की सिद्धि का माध्यम नहीं।—तब फिर उसकी पर्याय विद्या के अन्तर्गत न होकर अविद्या के अन्तर्गत ही बननी चाहिए। मुझे विश्वास है कि प्रकृति और अविद्या दोनों से अनुसंधान आने के नाते आशा अनुसंधान की यह अयोग्यता स्वीकार्य नहीं होगी।

अनुसंधान के क्षेत्र में आलोचना के रूप विरोध का एक इतिहास है। सन १५२० में पुन जब हिन्दी में अनुसंधान का काम विधिक आरम्भ हुआ उस समय साहित्य-समोक्षा के क्षेत्र में आशा रामचन्द्र शुक्ल का एक विचार था। शुक्लजी की आलोचना-शक्ति में तत्त्व-ज्ञान के प्रति इनका प्रबल आग्रह था कि वे तत्त्वों की बिना अधि नहीं करण थे। उनका इतिहास तथा मूर्तिमात्रों एवं वैज्ञानिक विचारों में तत्त्व-ज्ञान स्पष्ट दुर्बल है। अनुसंधान का अनुसंधान ही उनका अर्थ्य रहा था—तत्त्वों के संकल्प और आशाशील परिणत के अन्तर्गत के प्रति उनको रुचि नहीं थी। इसका सुपरिणाम यह हुआ कि आशा मूर और अनुसंधान के काम के अन्तर्गत तत्त्वों का अनुसंधान के अन्तर्गत मूर्तिमात्रों में कर गए हैं परन्तु अनुसंधानियों के विचार का प्रय आग्रह तब उनमें कोई आशा-पर्यन्तक अधिदृष्टि नहीं कर पाय। बिहारी चनामय आदि विचारों के विषय में अज्ञान के जो मूल्य तत्त्व के अन्तर्गत इतिहास में विचारकर गये हैं परन्तु अनुसंधान का यह तब तत्त्वों के आशा पर था ता उनकी पुष्टि कर रहे हैं या विचार। आशा म मूर अनु

प्रतिपाद्य का उल्थाकार मात्र है। उत्तरपक्ष में मैं अपने से धीर भापसे एक प्रश्न करता हूँ क्या कुछ घासोचना अनुसंधान नहीं है? यह प्रश्न एक दूसरे ढंग से भी रखा जा सकता है क्या उत्तम घासोचना अनिवार्यत् उत्तम अनुसंधान नहीं है? यद्यपि क्या उत्तम साहित्यिक अनुसंधान अपनी जरत परिणति में घासोचना से बिम्ब ही रहता है? साहित्यशास्त्र का विद्यार्थी होने के नाठ मेरे पास इसका एक ही उत्तर है और वह यह कि उत्तम घासोचना अनिवार्यत् उत्तम अनुसंधान भी है और उत्तम साहित्यिक अनुसंधान अपनी जरत परिणति में घासोचना से अभिन्न हो जाता है। हिन्दी में चायसी प्रभावशी की भूमिका उत्तम घासोचना का असम्बन्ध प्रमाण है और साहित्यिक अनुसंधान का भी मैं उसे निरन्ध ही अत्यन्त उत्कृष्ट उदाहरण मानता हूँ। यहाँ तो उल्थाकार भी अत्यन्त पुष्ट है इसलिए विचार के लिए अवकाश कम है। सुलक्ष्मी के सैद्धांतिक निबन्धों को ही लीजिए। क्या हिन्दी काव्यशास्त्र के विकास में उनका अत्यन्त मौलिक योगदान किसी प्रकार संदिग्ध हो सकता है? यद्यपि क्या उनका शोध मूल्य किसी प्रकार कम है? घाप कदाचित् हिन्दी के एक अन्य माध्य घासोचक का प्रमाण देकर मुझे निरुत्तर करना चाहेंगे। ये घासोचक हैं शान्तिप्रिय द्विवेदी। वे निरन्ध ही साहित्य के मर्म घासोचक हैं किन्तु घाप धीरचित्यपूर्वक उनके सफल अनुसंधान होने से घका कर सकते हैं। इसके उत्तर में मेरा निवेदन है कि शान्तिप्रिय की जिन रचनाओं का शोध-महत्त्व संदिग्ध है, उनका घासोचकारणक मूल्य भी सर्वथा निर्विवाद नहीं है। प्रभाव-पहलु घासोचना का प्राथमिक कर्म होने पर भी प्रभाववादी-घासोचना प्रायः निम्न कोटि की घासोचना ही मानी जाती है। शान्तिप्रिय अपने चित्त को समत और दृष्टि को स्थिर कर वहाँ प्राधुनिक काव्य—विशेषतः छायावाद-काव्य—के कर्म का उन्मेष करने में सफल हुए हैं, वहाँ उनकी घासोचनाओं का शोध-मूल्य भी असम्बन्ध है। छायावादी सौन्दर्य-दृष्टि की विवृति अपने घाप में महत्त्वहीन अनुसंधान नहीं है। अब दूसरा पक्ष लीजिए। मैं घापसे किसी ऐसे शोध-प्रबन्ध का नाम पूछता चाहूँगा जो घासोचकारणक गुणों के घभाव में भी उत्तम अनुसंधान का प्रमाण हो। घाप बापा-विज्ञान यद्यपि ऐतिहासिक अनुसंधान के क्षेत्र से कदाचित् कुछ उदाहरण उपस्थित करने किन्तु मैं तो साहित्यिक अनुसंधान की बात कर रहा हूँ। साहित्यिक अनुसंधान के क्षेत्र से भी चायद घाप इस प्रकार के शोध-प्रबन्धों के नाम सेना चाहें। विधिष्ट उदाहरण न देकर इस प्रसंग में सामान्य रूप से मैं यही निवेदन करना चाहूँगा कि इस प्रकार के घकाद्य प्रमाण प्रायः दुर्लभ ही हैं! ऐसे प्रबन्ध जिनका मूल्य केवल उल्ल-शोध पर घात है उत्तम अनुसंधान न होकर अनुसंधान के संभव-सर्वों के रूप में ही माध्यता प्राप्त कर सकेंगे। परिष्म में और वहाँ के अनुकरण पर इस रूप में

भी ऐसे ग्रंथों का महत्त्व बढ़ रहा है। मैं इसका निषेध नहीं करता किन्तु ये सब तो धनुमधान की सामग्री या समाधानमात्र हैं। हिन्दी में ऐन महत्त्वपूर्ण ग्रंथ हैं जिनके द्वारा प्रचुर नवीन सामग्री प्रकाश में आई है। उनमें हिन्दी-साहित्य और उनके धनुमधाता का निरूपण ही बड़ा कल्याण हुआ है किन्तु इसका उन्हें आरम्भ धनुमधान मानने का आग्रह न कीजिए। ये तो उत्तम धनुमधान के आरम्भ हैं। तत्त्व-दृष्टि से यदि हम विचार करें तो विद्या के सभी क्षेत्रों का एक ही उत्कृष्ट निर्धारित किया जा सकता है और वह है मत्त्व की उपलब्धि। सत्य और तत्त्व में यह भेद है कि एक केवल शोध का विषय है और दूसरा धनुमूक्ति का। शोध का अर्थ है एन्द्रिय अथवा बौद्धिक प्रत्यक्ष और धनुमूक्ति का अर्थ है मर्म का आशाकार। मर्म के साक्षात्कार के लिए तत्त्व-शास्त्र में आये बचकर तत्त्व के द्वारा व्यञ्जित मत्त्व की प्रवृत्ति आवश्यक है। यही आत्मोपना को परम परिणति है और भेद आग्रह है कि धनुमधान की उत्तम परिणति भी यही होनी चाहिए। तत्त्वविषयक विद्या के उपबन्ध (२) तत्त्वों या विद्यान्ता के नवीन आख्यान के अन्तर्गत यद्यपि इसका उत्कृष्ट विद्यमय रूप में किया गया है किन्तु उनकी सत्यता से निर्विवाद है कि यह धनुमधान की उत्कृष्ट भूमि है। इस मत्त्व की सिद्धि के बिना धनुमधान केवल तत्त्व-शोध का माध्यम होकर रह जाता है, मत्त्व की सिद्धि का माध्यम नहीं।—तब फिर उनकी गणना विद्या के अन्तर्गत न होकर उपविद्या के अन्तर्गत ही करनी चाहिए। मुझे विश्वास है कि प्रवृत्ति और व्यक्तियों दोनों से धनुमधाता हान के नाते आपको धनुमधान की यह अवगति स्वीकार नहीं होगी।

धनुमधान के क्षेत्र में आत्मोपना के इन विरोध का एक इतिहास है। लगभग १५२० वर्ष पूर्व जब हिन्दी में धनुमधान का काव्य विधिबद्ध आरम्भ हुआ उस समय साहित्य-संशोधना के क्षेत्र में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का एका विषय था। शुक्लजी की आत्मोपना-पद्धति में तत्त्व-शोधन के प्रति इतना प्रबल आग्रह था कि वे तत्त्वों की विद्या अधिक नहीं करते थे। उनका इतिहास तथा भूमिकाओं एक वैज्ञानिक निबन्धों में तत्त्वाधार स्पष्टतः दुर्बल है। अस्तुतः आत्मा का धनुमधान ही उनका ध्येय रहता था—तत्त्वों के अन्तर्गत और सांख्यिकी पद्धति के परममन्त्र के प्रति उनका रुचि नहीं थी। इसका सुपरिणाम यह हुआ कि ज्ञानपीठ और शुक्लजी के नाम के जिन सांख्यिक रहस्यों का उत्पादन के अन्तर्गत भूमिकाओं में कर गए हैं परन्तु धनुमधाताओं के विनाम काय रूप था कि उनमें कोई आरक्षणजनक अतिदृष्टि नहीं कर पाये। बिना ही अज्ञान्य आदि विधियों के विषय में विज्ञान के जो सूत्र तत्त्व के अन्तर्गत इतिहास में विकसित हुए गये हैं परन्तु धनुमधान का यह तत्त्वों के आकार पर या तो उनकी पुष्टि कर रहे हैं या विस्तार। आत्मन में मूल धनु

प्रतिपाद्य का उल्थाचार मात्र है। उत्तरपक्ष में मैं अपने से और प्रायसे एक प्रश्न करता हूँ क्या कुछ आलोचना अनुसंधान नहीं है? यह प्रश्न एक बूढ़े ङग से भी रखा जा सकता है। क्या उत्तम आलोचना अनिवार्यतः उत्तम अनुसंधान नहीं है? यथवा क्या उत्तम साहित्यिक अनुसंधान अपनी जरम परिणति में आलोचना से निम्न ही रहता है? साहित्यशास्त्र का विद्यार्थी होने के भाते मेरे पास इसका एक ही उत्तर है और वह यह कि उत्तम आलोचना अनिवार्यतः उत्तम अनुसंधान भी है और उत्तम साहित्यिक अनुसंधान अपनी जरम परिणति में आलोचना से अभिन्न हो जाता है। हिन्दी में बायसी प्रभावशी की भूमिका उत्तम आलोचना का असम्बन्ध प्रमाण है और साहित्यिक अनुसंधान का भी मैं उसे निश्चय ही अत्यन्त उत्कृष्ट उदाहरण मानता हूँ। यहाँ तो उल्थाचार भी अत्यन्त पुष्ट है इसलिए विचार के लिए अवकाश कम है। मुकलजी के सैद्धांतिक निबन्धों को ही लीजिए। क्या हिन्दी काव्यशास्त्र के विकास में उनका अत्यन्त मौलिक योगदान किसी प्रकार संदिग्ध हो सकता है? यथार्थ क्या उनका शोध मूल्य किसी प्रकार कम है? शायद कदाचित् हिन्दी के एक अन्य मान्य आलोचक का प्रमाण देकर मुझे निश्चय करना चाहिये। वे आलोचक हैं छान्तिप्रिय द्विवेदी। वे निश्चय ही साहित्य के सभी आलोचक हैं किन्तु प्रायः शोधपूर्वक उनके सफल अनुसंधान होने में सक्षम कर सकते हैं। इसके उत्तर में मेरा निवेदन है कि छान्तिप्रियजी की जिन रचनाओं का शोध-महत्त्व संदिग्ध है, उनका आलोचनात्मक मूल्य भी सर्वथा निश्चय नहीं है। प्रभाव-ग्रहण आलोचना का प्राथमिक धर्म होने पर भी प्रभाववादी-आलोचना प्रायः निम्न-कोटि की आलोचना ही मानी जाती है। छान्तिप्रिय अपने चित्त को संकट और दृष्टि को स्थिर कर वहाँ प्राबुलिक काव्य—विशेषतः छायावाद-काव्य—के धर्म का उन्मेष करने में सफल हुए हैं वहाँ उनकी आलोचनाओं का शोध-मूल्य भी असम्बन्ध है। छायावादी सौन्दर्य-दृष्टि की विकृति अपने प्रायः महत्त्वहीन अनुसंधान नहीं है। अब दूसरा पक्ष लीजिए। मैं प्रायसे किसी ऐसे शोध-प्रबन्ध का नाम पूछता जाऊँगा जो आलोचनात्मक गुणों के अभाव में भी उत्तम अनुसंधान का प्रमाण हो। प्रायः माया-विज्ञान अथवा ऐतिहासिक अनुसंधान के क्षेत्र से कदाचित् कुछ उदाहरण उपस्थित करेंगे किन्तु मैं तो साहित्यिक अनुसंधान की बात कर रहा हूँ। साहित्यिक अनुसंधान के क्षेत्र से भी शायद प्रायः इस प्रकार के शोध-प्रबन्धों के नाम देना चाहें। विधिष्ठ उदाहरण न देकर इस प्रसंग में सामान्य रूप से मैं यही निवेदन करना चाहूँगा कि इस प्रकार के अकादमिक प्रमाण प्रायः दुर्लभ ही हैं। ऐसे प्रबन्ध जिनका मूल्य केवल उत्तम-शोध पर प्राप्त है उत्तम अनुसंधान न होकर अनुसंधान के सदसं-बंधों के रूप में ही मान्यता प्राप्त कर सकते हैं। पश्चिम में और वहाँ के अनुकरण पर इस देश में

इस प्रकृति के मूल में एक आचारमूर्त सिद्धान्त की उपेक्षा निहित थी। वह सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक विषय के अध्ययन की प्रविधि प्रक्रिया उस विषय की अपनी प्रकृति में से ही प्राप्त होनी चाहिए। अध्ययन के नियम और प्रविधि प्रक्रिया निरपेक्ष नहीं हैं वे सग विषय पर ही भाषित रहते हैं। अतः जो विज्ञान विद्वान को निस्संम दृष्टि और एकाग्र वस्तुपरक प्रविधि-प्रक्रिया का यथावत् आरोपण साहित्य के अध्ययन पर करना चाहते हैं वे इस भौतिक सिद्धान्त को भूल जाते हैं कि कृपाकृति ही आत्मा का प्रतिबिम्ब मात्र है। अतः साहित्य की आत्मा का धनुसंधान करने के लिए विज्ञान का उतना उपयोग तो अपेक्षक है जितना कि मानव-आत्मा के उत्कर्ष के लिए नाना प्रकार के भौतिक और सामाजिक विज्ञानों का। पर इसके आगे बढ़ना कठोरताक होगा। उससे साहित्यिक मूल्याँ का विपर्यय हो जाने की बड़ी आशंका है।

और, यह आशंका मात्र हिन्दी धनुसंधान के क्षेत्र में सत्य सिद्ध हो रही है। धनुसंधान आलोचना नहीं है, इस आन्त भारणा से अन्य भ्रान्तियों का जन्म हो रहा है, हिन्दी का धनुसंधाना यह समझने समा है कि धनुसंधान का कार्य केवल चन्नेपण करना है। असाहित्य और असाहित्य—यही ठक कि साहित्य और असाहित्य की परस्पर से उसका क्या बास्ता? फलतः मात्र साहित्यिक धनुसंधान के नाम पर ऐसे बाह्यमय का स्रष्ट हो रहा है जो किसी भी लक्षण से साहित्य के अन्तर्गत नहीं आता। मैंने भारतीय हिन्दी परिपद् की निबन्ध मोट्टी के समापति-वर्ण से यह प्रश्न उठवाया था। उस समय समयाभाव के कारण मैं अपने मन्तव्य को स्पष्ट नहीं कर पाया था और सुना था बाद में कतिपय विद्वानों को मेरे बन्धन पर आपत्ति भी थी। मेरा अविश्राम वास्तव में यह है कि साहित्यिक धनुसंधान साहित्य की परिधि के भीतर ही रहना चाहिए—ऐसी सामग्री की जो साहित्य के अन्तर्गत नहीं आती अर्थात् जो अपनी विषय-बन्धु और प्रतिपादन-शैली द्वारा स्रष्टव्य के चित्त को अमलकृत करने में सर्वथा अयोग्य है साहित्य के धनुसंधान के अन्तर्गत संघ्राह्य नहीं मानना चाहिए। मात्र हिन्दी के धनुसंधाना आविर्भाव अतिक्रान्त आधुनिक हिन्दी साहित्य के पूर्ण परिधि से सम्बद्ध ऐसी प्रचुर सामग्री का ढेर समाते जा रहे हैं जो साहित्य नहीं है। उदाहरण के लिए रामनाथ्य अथवा इन्द्रनाथ्य के कलेवर का विषय १ १२ वर्षों में नवीनता के अन्वेषकों ने ऐसे अनेक साम्प्रदायिक संघों से भरकर घुसा दिया है जो किसी भी परिभाषा के धनुसंधान का नहीं है। साथ बहने उनका ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक मूल्य है—ठीक है, मैं भी इसे मानता हूँ किन्तु धनुसंधान के विषय का दौरेब तो रामनाथ्य या इन्द्रनाथ्य है। रामनाथ्य अथवा इन्द्रनाथ्य साम्प्रदायों का इतिहास नहीं है। जो स्पष्टन अभाव है उस सामग्री का वृष्टभूमि आदि का निर्माण करने के

संशय क्या है—तत्त्व ही न ? इस तत्त्व-सोप की सामान्यता को विधियाँ हैं एक दर्शन की बूझती विज्ञान की । पहली की यति ऋषु धीर स्वरित है—वह तन्त्र पर सीधा आक्रमण करती है बूझती का आचार अधिक हड़ धीर पुष्ट है किन्तु बहि मन्त्र एवं विसम्बिध है । दोनों के अपने गुण-बोध हैं पहली के परिणाम धीमगम्य हैं किन्तु प्रतिपूर्ण भी हो सकते हैं बूझती में प्रति की आसका अपेक्षाकृत बहुत कम है किन्तु उसमें एक बड़ी आसका यह है कि अनुसंधान की दृष्टि तन्त्र-आत्म में उत्तम जाती है धीर तत्त्व की उद्देश्य हो जाती है—तन्त्रों के तन्त्र के स्वर में तत्त्व के नवीन का स्वर भूत जाता है । शुक्लजी के अनुसंधान में पहली पद्धति के गुण-बोध के । समग्र जन्मी विलो हमारे कुछ-एक विज्ञान विवेक से शोध-कार्य कर लीं वे जहाँ वैज्ञानिक पद्धति का साहित्यिक अनुसंधान के क्षेत्र में भी यथावत् प्रयोग हो रहा था । यहाँ आकर इन्होंने देखा कि हिन्दी अनुसंधान के क्षेत्र में इसका सर्वथा अभाव था उसकी प्रविधि धीर प्रक्रिया पर्यन्त अपूर्ण और अस्पष्टचित्त थी । फलतः डा० बीरेन्द्र बर्मों धारि ने वैज्ञानिक पद्धति को हिन्दी-सोध के क्षेत्र में भी प्रति-फलित करने का अस्पष्टचित्त प्रयत्न किया धीर एक नवीन सोप प्रणाली का आविर्भाव हुआ जो प्रचलित प्रणाली के साथ समर्थ में जाने लगी । उसी संघर्ष से इस नारे का जन्म हुआ कि अनुसंधान आलोचना नहीं है । इस पृथक्करण से साम धीर हानि दोनों ही हुए । साम तो यह हुआ कि अनुसंधान में तन्त्र-श्रेयस का महत्त्व बढ़ा—पुष्ट तन्त्राचार से विवेचना में प्रामाणिकता और प्रत्यय-शक्ति का विकास हुआ । प्रविधि धीर प्रक्रिया में वैज्ञानिक अस्पष्टचिति एवं पूर्णता आई । दृष्टि को निस्संग निरीक्षण की क्षमता प्राप्त हुई । व्यक्तिगत दृष्टि-वैचित्र्य का संयमन और उससे प्रभावित प्रमुक्त निष्कर्षण की प्रवृत्ति का निर्वन्धन हुआ । इससे न केवल हिन्दी अनुसंधान का बल्कि हिन्दी आलोचना का भी अस्वास्थ्य हुआ किन्तु हानि भी कम नहीं हुई । अंतर्दृष्टि अन्वेषण होने लगी—तन्त्र पर दृष्टि केन्द्रित हो जाने से तत्त्व-दर्शन का महत्त्व कम होने लगा । अनुसंधान साक्षात् में उत्तमकर मूस को भूलने लगा । विस्तेरण के स्वान पर गलना का आविर्भाव होने लगा । हृद्य के सुन्दर रूपाओं को अक्षय करने के लिए यात्रिक परीक्षा की जाने लगी । अन्वय का नियंत्रण करने के द्वारा प्रह ने विचार और चिन्तन को भी शील कर दिया । बाह्य रूप-विधा का गौरव इतना बढ़ा कि साहित्य का प्राण-रस सूखने लगा । साहित्य के अंतर्दर्शन को नए आलोचक छायावादी आलोचना कहने लगे । एक प्रतिपाद से मुक्त होकर हिन्दी अनुसंधान एक बूझते चतक प्रतिपाद का चिह्न हो गया । वास्तव में वह प्रवृत्ति धीर भी अधिक विन्य भी धीर यदि समय पर इसका नियमन न हुआ होता तो हमारे यहाँ विद्या का स्तर निरन्ध ही गिर जाता । वास्तव में

कृप्यसुकाव्य शीर्षक के अंतर्गत इस प्रकार की अकाव्यमयी सामग्री का समावेश होता जा रहा है। और, इसका कारण क्या है? केवल यह गलत नारा कि धनुमधान धामोचना नहीं है—इसीलिए धामोचक-दृष्टि के अभाव में धनुमधाता काव्य के मकनीत के साथ उस सप्रेता को फिर से मिमाकर रख देता है जिस प्राचार्य सुक्य जैसे मनीं इतिहासकारों ने निकालकर फेंक दिया था। जसा कि मैंने अन्वयत्र निवेदन किया है यह सब कच्चा मांस है—इसे धामोचना की परिष्कारिणी (रिफाइन्गरी) में साफ करके ही इस्तेमाल करना चाहिए। आखिर, काव्यानुसंधान का सक्षय क्या है? काव्य-सत्य की शोष ही न? जिस धनुसंधान में काव्यरस धवात् काव्य का मूल सत्य ही लो जाए, वह फिर और किस की साज करना चाहता है?

मैं स्वभाव और वृत्ति से अय्यापक हूँ। कक्षा में प्रत्येक व्याख्यान के बाद मैं इस विषय में धाड़बत होने का प्रयत्न करता हूँ कि सभी विद्यार्थी मेरे वक्तव्य को समझ गए या नहीं। मेरे वक्तव्य से उनके मन में कुछ भ्रान्तिमा तो उत्पन्न नहीं हो गई और मेरे द्वारा प्रस्तुत सामग्री का विद्यार्थी किस प्रकार से उचित उपयोग कर सकेंगे। आपको विद्यार्थी मानने का इम्त तो मैं कैसे करूँ? किन्तु यह विश्वास लेकर कि आप सब जिज्ञासु भाव से यहाँ उपस्थित हैं मैं अपनी इस प्रवृत्ति की सादृष्टि करना चाहता हूँ और धनुसंधान के विषय में अपने प्रतिपाद्य विषय से सम्बद्ध कुछ व्यावहारिक मनेत देकर प्रायः के वक्तव्य को समाप्त करूँगा। मेरी स्थापनाएं संक्षेप में इस प्रकार हैं

१—धनुमधान और धामोचना निश्चय ही पर्याय नहीं है—धनुमधानकर्मी को यह समझकर अपने काय में प्रवृत्त होना चाहिए। इस उसकी प्रवृत्ति तथ्यसोप के प्रति जागरूक रहेगी और उसके दिवचन का तथ्यापार पुष्ट हो जाएगा। वह परागत तथ्यों पर निर्भर न रहकर स्वयं की मकीत सामग्री के संकलन का प्रयत्न करेगा या कम से कम प्राप्त सामग्री की प्रामाणिकता की परीक्षा स्वयं करेगा। प्रत्येक सोचवर्ता को इस प्रवृत्ति का विकास करना चाहिए।

२—अनेक विषय ऐसे हो सकते हैं जिनके अंतर्गत तथ्यान्वयण में भी काम चल सकता है। कम से कम पी-एच डी० की उपाधि के लिए उतना पर्याप्त हो सकता है। किन्तु यह धनुमधान का अर्थ है इति नहीं है। उभी विषय पर तथ्याख्यान और मन्सक धामोचना के द्वारा गहनतर धनुसंधान की मयाबनाएं बनी रहनी हैं। वही शोधार्थी अपना कोई अर्थ उनमें दबाविधि साथ उठा सकता है और उस उठाना चाहिए। उदाहरण के लिए ध्रुवदाम के जीवनवृत्त और बहिर्वृत्त पर शोध करने के परवान् वही या अन्य कई धनुसंधान ध्रुवदाम की काव्यरमा शार्तनिक भूमिका धारि पर सूक्ष्मतर धनुमधान कर सकते हैं।

३—तथ्यान्वयण धनुमधान का आधार मान है और प्रारम्भिक रूप हो

लिए उपयोग कर लीजिए किन्तु काव्य शीर्षक के अंतर्गत उसका अनुसंधान करने की कृपा न लीजिए। प्राक्काल को ही लीजिए—नाचों और सिद्धों की संकड़ों रचनाओं का हमारे जोधियों ने साधुओं की गुरुद्वियों में से निकालकर डेर लगा दिया है—धामुबंद कृपि समकालीन राजनीति प्राक् से सम्बद्ध राशि-राशि प्रबंध हिन्दी साहित्य का सीमा-विस्तार धामुबंद और इपिधास्य तक करते आ रहे हैं। निर्गुण संतों की धाम्प्रथमिक भावियाँ बिनकी रचना कुछ साम्प्रथमिक उद्देश्य से हुई थी और कबिल के नितांत प्रभाव के कारण किसी भी प्राचीन काव्य-रसिक ने उनका भूलकर भी उल्लेख नहीं किया। प्राक् के वैज्ञानिक अनुसंधान के फलस्वरूप हिन्दी-काव्य की श्रीवृद्धि कर रहे हैं। इसी प्रकार धामुनिक काल में भारतेन्दु और त्रिबेदी-युग की सम्पूर्ण पत्रकारिता का हिन्दी साहित्य में अविकल रूप से समावेश किया जा रहा है। अथर लोक-साहित्य का प्राक्मण भी जोर से हो रहा है—और लोक-साहित्य तक ठो कुचम की क्योंकि साहित्य शब्द के साहचर्य के कारण लोक-हृदय की कल्याण-मधुर अनुभूतियों से उसका कुछ न कुछ संपर्क बना रहता था। किन्तु अब तो हमारा अनुसंधान लोकवार्ता तक प्रवृत्त करता जा रहा है—उस वार्ता तक जिसके विषय में संस्कृत काव्य शास्त्र के प्राचीन प्राचार्य का निम्नलिखित निर्णय था

गतोऽस्तमश्चैर्मातीन्दुर्मानि वासाय पश्यिष्य ।

इत्येषमादि किं कश्च्यं वार्तामेना प्रचक्षते ॥

(धामह काव्यालंकार २।८७)

धर्मात् सुप्रसिद्ध हो गया। अथमा चमक रहा है, पश्चिमल धपने बौधियों में आ रहे हैं। यह भी क्या कोई काव्य है? इसे तो वार्ता कहते हैं। धर्मात् वार्ता अथ हमारे काव्यशास्त्र में धर्मात् का पर्याय माना गया है।

मैं एक भाव का निराकरण करने के लिए इसी को जन्म देना नहीं चाहता। इसलिए धपने मत्स्य को जोड़ा और स्पष्ट करना आवश्यक है। मैं एक क्षण के लिए भी इस प्रकार की सामग्री का धबमूखन करना नहीं चाहता—सांस्कृतिक सामाजिक इतिहासिक अनुसंधान में इसका धपना विधिष्ठ मूल्य है। भारत की मध्यकालीन संस्कृति का इतिहास प्रस्तुत करने में निम्नों नाचों और संतों की भावियों का धपूब महत्त्व है—वेद के नवजावरण का इतिहास भारतेन्दु और त्रिबेदीयुगीन पत्रकारों का चिरसाभिन्न रहैया इसी प्रकार लोक-संस्कृति और समाजशास्त्र के लिए लोकवार्ताओं का महत्त्व धबुल्ल है। मध्यकाल धबबा धामुनिक काल के हिन्दी साहित्य की पृष्ठभूमि के रूप में भी उपर्युक्त सामग्री धरान्त मूल्यवान है। प्रेरक जोधों के रूप में इसका उपयोग किया जा सकता है। कवि-मानस के निर्माण के लिए उत्कृष्टतम परिवेध की महत्ता भी धसंविष्य है। किन्तु वह तो दोष ही है। प्राक् तो संतकाव्य रामकाव्य

दृष्ट्याकांक्ष्य, सीर्यक के अतर्गत इस प्रकार की अकांक्ष्यमयी सामग्री का समावेश होता जा रहा है। और, इसका कारण क्या है? केवल यह मसत मारा कि धनुसंधान आत्मोपना नहीं है—इसीलिए आत्मोपन-दृष्टि के अभाव में धनुसंधान कांक्ष्य के मन्वीत के साथ उच्च सम्रेता को फिर से मिलाकर रख देता है जिसे आचार्य कुम्भ जैसे मर्मी इतिहासकारों ने निकालकर फेंक दिया था। जैसा कि मैंने अन्यात्र निवेदन किया है यह सब बच्चा मास है—इसे आत्मोपना की परिष्कारिणी (रिफाइनरी) में साफ करके ही इस्तेमाल करना चाहिए। आखिर, कांक्ष्यानुसंधान का मन्व्य क्या है? कांक्ष्य-सत्य की शोध ही न? जिस धनुसंधान में कांक्ष्यरज अर्थात् कांक्ष्य का मूस सत्य ही लो जाए, वह फिर और जिस की शोध करना चाहता है?

मैं स्वभाव और वृत्ति से अध्यापक हूँ। कक्षा में प्रत्येक व्याख्यान के बाद मैं इस विषय में आश्चर्य होने का प्रयत्न करता हूँ कि सभी विद्यार्थी मेरे बक्तव्य को समझ गए या नहीं। मेरे बक्तव्य से उनके मन में कुछ आतिया तो उत्पन्न नहीं हो गई और मेरे द्वारा प्रस्तुत सामग्री का विद्यार्थी किस प्रकार से उचित उपयोग कर सकेंगे। आपको विद्यार्थी मानने का दम्भ छोड़ें मैं कैसे कहूँ! किन्तु यह विश्वास लेकर कि आप सब जिज्ञासु भाव से यहाँ उपस्थित हैं मैं अपनी इस प्रवृत्ति को आवृत्ति करना चाहता हूँ और धनुसंधान के विषय में अपने प्रतिपाद्य विषय से सम्बद्ध कुछ व्यावहारिक सुबेठ देकर आज के बक्तव्य को समाप्त करूँगा। मेरी स्थापनाएँ संक्षेप में इस प्रकार हैं

१—धनुसंधान और आत्मोपना निरन्तर ही पर्याय नहीं है—धनुसंधानकर्मी को यह समझकर अपने कार्य में प्रवृत्त होना चाहिए। इससे उसकी प्रवृत्ति सम्प्राप्य के प्रति जायसक रहेगी और उसके विवेचन का तथ्याधार पुष्ट हो जाएगा। वह पत्रगत सम्प्राप्य पर निर्भर न रहकर स्वयं भी नवीन सामग्री का संवसन का प्रयत्न करेगा या कम से कम प्राप्त सामग्री की प्रामाणिकता की परीक्षा स्वयं करेगा। प्रत्येक घोषवर्ता को इस प्रवृत्ति का विकास करना चाहिए।

२—अनेक विषय ऐसे हो सकते हैं जिनके अतर्गत तथ्यान्वयण से भी काम चल सकता है। कम से कम पी-एच० डी० की उपाधि के लिए उतना पर्याप्त हो सकता है। किन्तु यह धनुसंधान का अर्थ है इति नहीं है। जहाँ विषय पर तथ्याख्यान और सम्प्रेत आत्मोपना के द्वारा गहनतर धनुसंधान की समावनाएँ बनी रहनी हैं। बही उपाधि अर्थात् कोई अर्थ उनसे अर्थात्कि साम उठा सकता है और उस उठाना चाहिए। उदाहरण के लिए धनुसंधान के जीवनवृत्त और अविद्वेष पर शोध करने के पदवात् बही या अन्य कई धनुसंधान अविद्वेष की कांक्ष्यरता शार्सनिक भूमिका आदि पर सूक्ष्मतर धनुसंधान कर सकते हैं।

३—तथ्यान्वयण धनुसंधान का आधार मात्र है और प्रारम्भिक रूप होने

लिए उपयोग कर लीजिए किन्तु काव्य शीर्षक के अंतर्गत उद्योग अनुसंधान करने की कृपा न कीजिए। आदिकाल को ही लीजिए—नाचों और सिद्धों की संकड़ों रचनाओं का हमारे लोचनों ने साधुओं की गुणधर्मों में से निकालकर डेर लगा दिया है—प्रायुर्वेद कृषि समकामीन राजनीति आदि से सम्बन्ध रखि-रखि र्वेप हिन्दी साहित्य का सीमा-विस्तार प्रायुर्वेद और कृषिशास्त्र तक करते जा रहे हैं। निर्गुण सत्तों की साम्प्रदायिक बानियाँ बितकी रचना कुछ साम्प्रदायिक उद्देश्य से हुई थी और कवित्व के नितांत धमाल के कारण किसी भी प्राचीन काव्य-उत्सुक ने उनका धूमकर भी उल्लेख नहीं किया। आज के नवजातिक धनु संघान के पसस्वरूप हिन्दी-काव्य की भीवृद्धि कर रहे हैं। इसी प्रकार प्राकृतिक काम में भारतेन्दु और त्रिवेदी-युग की सम्पूर्ण पत्रकारिता का हिन्दी साहित्य में अधिकतम रूप से समावेश किया जा रहा है। उबर लोक-साहित्य का प्राकमण भी जोर से हो रहा है—और लोक-साहित्य तक तो कुछन भी क्योंकि साहित्य राज्य के साहचर्य के कारण लोक-हृदय की कण्ठा-मधुर अनुभूतियों से उद्योग कुछ न कुछ सपर्क बना रहता था। किन्तु अब तो हमारा अनुसंधान लोकवार्ता तक प्रगति करता जा रहा है—उस वार्ता तक जिसके विषय में संस्कृत काव्य शास्त्र के प्राचीन प्राचार्य का निर्भ्रांत निर्णय था

गतोऽस्तमक्रे मातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः।

इत्वेवमादि किं कर्म्यं वार्तामेना प्रचक्षते ॥

(भाषाह काव्यालंकार २।८७)

अर्थात् सूर्यास्त हो गया चन्द्रमा चमक रहा है पक्षिण अपने बोंसों में जा रहे हैं। यह भी क्या कोई काव्य है? इसे तो वार्ता कहते हैं। अर्थात् वार्ता सम्बन्ध हमारे काव्यशास्त्र में अकाव्य का पर्याय माना गया है।

मैं एक आति का निराकरण करने के लिए बूझी को जन्म देना नहीं चाहता। इसलिए अपने मंत्रम्य को बोझ और स्पष्ट करना आवश्यक है। मैं एक शय के लिए भी इस प्रकार की सामग्री का धनमूक्यत करना नहीं चाहता—सांस्कृतिक सामाजिक ऐतिहासिक अनुसंधान न इसका अपना विधिष्ट मूक्य है। भारत की मध्यकामीन संस्कृति का इतिहास प्रस्तुत करने में सिद्धों नाचों और संतों की बानियों का अयुवं महत्त्व है—देश के नवजागरण का इतिहास भारतेन्दु और त्रिवेदीयुगीन पत्रकारों का चिरभाषित रहेगा इसी प्रकार लोक-संस्कृति और समाजशास्त्र के लिए लोकवार्ताओं का महत्त्व अनुभूत है। मध्ययुग अथवा प्राकृतिक काम के हिन्दी साहित्य की पृष्ठभूमि के रूप में भी उपर्युक्त सामग्री अत्यन्त मूक्यवान है। प्रेरक आतों के रूप में इसका उपयोग किया जा सकता है कवि-मानस के निर्माण के लिए उत्कामीन परिवेप की महत्ता भी असंदिग्ध है। किन्तु वह तो क्षेत्र ही क्षेत्र है। आज तो अंतकाल्यः शयकाल्यः

दृष्टाकाय्य शीर्षक के अंतर्गत इस प्रकार की अकाव्यमयी सामग्री का समावेश होता जा रहा है। और, इसका कारण क्या है? केवल यह गलत नारा कि धनुसधान आलोचना नहीं है—इसीलिए आलोचक-दृष्टि के अभाव में धनुसधाता काव्य के मबनीत के साथ उस सुपेटा को फिर से निभाकर रख देता है जिस आचार्य भुक्त असे मर्मा इतिहासकारों ने निकालकर फेंक दिया था। जैसा कि मैंने अग्रपत्र निवेदन किया है, यह सब कच्चा मांस है—इसे आलोचना की परिष्कारिणी (रिफ़ाइनरी) में साफ़ करके ही इस्तेमाल करना चाहिए। आखिर, काव्यानुसंधान का मध्य क्या है? काव्य-सत्य की लोभ ही न? जिस धनुसधान में काव्यत्व अथात् काव्य का मूल सत्य ही जो आए, वह फिर और किस की खोज करना चाहता है?

मैं स्वभाव और वृत्ति से अध्यापक हूँ। कक्षा में प्रत्येक व्याख्यान के बाद मैं इस विषय में आदर्श होने का प्रयत्न करता हूँ कि सभी विद्यार्थी मेरे बक्तव्य को समझ गए या नहीं। मेरे बक्तव्य से उनके मन में कुछ भावियाँ तो उत्पन्न नहीं हो गईं और मेरे द्वारा प्रस्तुत सामग्री का विद्यार्थी किस प्रकार से उचित उपयोग कर सकेंगे। आपको विद्यार्थी मानने का दम्भ तो मैं कैसे करूँ! किन्तु यह विश्वास लेकर कि आप एक विद्वान् भाव से यहाँ उपस्थित हैं मैं अपनी इस प्रवृत्ति को आवृत्ति करता जाहूँ और धनुसधान के विषय में अपने प्रतिपाद्य विषय से सम्बद्ध कुछ व्यावहारिक संकेत लेकर भाव के बक्तव्य को समाप्त करूँगा। मेरी स्थापनाएं संक्षेप में इस प्रकार हैं

१—धनुसधान और आलोचना निरर्थक ही पर्याय नहीं है—धनुसधानकर्मी को यह समझकर अपने कार्य में प्रवृत्त होना चाहिए। इससे उसकी प्रवृत्ति सम्बन्ध के प्रति जागरूक रहेगी और उसके दिवेदन का तथ्याधार पुष्ट हो जाएगा। वह परागत तथ्यों पर निर्भर न रहकर स्वयं भी नवीन सामग्री के संवहन का प्रयत्न करेगा या कम से कम प्राप्त सामग्री की प्रामाणिकता की परीक्षा स्वयं करेगा। प्रत्येक शोधकर्ता को इस प्रवृत्ति का विकास करना चाहिए।

२—अनेक विषय ऐसे हो सकते हैं जिनके अंतर्गत तथ्यान्वयण में भी काम कम सकता है। कम से कम पी०एच० डी० की उपाधि के लिए उतना पर्याप्त हो सकता है। किन्तु यह धनुसधान का अर्थ है इति नहीं है। उक्त विषय तथ्यान्वयण और सम्यक आलोचना के द्वारा महत्तर धनुसधान का विकास बनी रहती है। वही शोधकर्ता अपना कार्य उचित रूप से पूर्ण करता है और उस उदामा चाहिए। उदाहरण के लिए उदाहरण के उदाहरण और अविशुद्ध पर शोध कार्य के फलस्वरूप उदाहरण के उदाहरण का विकास, दार्शनिक मुद्दा उदाहरण के उदाहरण का विकास है।

३—तथ्यान्वयण धनुसधान का अर्थ है उदाहरण के उदाहरण का विकास है।

के माते अपेक्षाकृत निम्नतर रूप भी है। डी मिट० के लिए इस प्रकार के घोषकार्य की संस्तुति करने में मुझे अत्यन्त संकोच होया जब तक कि उसका क्षेत्र बहुत ही व्यापक न हो।

४—आलोचनात्मक प्रतिभा के बिना मैं उत्कृष्ट अनुसंधाता की रूपना नहीं कर सकता। सोप-नियमों के अनुसार भी परीक्षक को यह प्रमायित करना पड़ता है कि अनुसंधाता ने अपने प्रबन्ध में आलोचना-शक्तता का परिचय दिया है। सत्य-शोध के तीन संस्वान हैं—तथ्य-संग्रह, विचार और प्रतीति। उपलब्ध तथ्य को विचार में परिवर्तित किए बिना ज्ञान की वृद्धि संभव नहीं है और विचार को प्रतीति में परिवर्तित किए बिना सत्य की सिद्धि सम्भव नहीं। तथ्य को विचार-रूप देने के लिए भाषण की आवश्यकता पड़ती है और विचार को प्रतीति में परिवर्तित करने के लिए दर्शन अनिवार्य है—और ये दोनों ही साहित्यालोचना के अंतर्गत् तत्त्व हैं। अतः उत्कृष्ट साहित्यिक आलोचना साहित्यिक अनुसंधान का उत्कृष्ट रूप है—शोधार्थी को इस महत्त्वपूर्ण तथ्य के विषय में निर्भ्रान्ति रहना चाहिए। इसलिये मेरे तक्षण मित्रों ! आप सक्ति और साजन के अनुसार अपने गतम्ब का निर्धारण कर सें। आपकी दृष्टि यदि व्यापसादिक है तो सामान्य अज्ञात या अर्धज्ञात कवि-लेखक के बरदान से ही तथ्यान्वेषण के द्वारा उपाधि मिस जाएगी यदि अपनी प्रतिभा के प्रति आप जागरूक हैं और आपकी मनस्थिति निम्न कोटि की सफलता से संतुष्ट नहीं हो सकती तो आपको अपनी आलोचना-शक्ति को अजगता और मंजना होगा जिससे कि आप तथ्यों की अजगता को समझ और समझ सकें और इससे भी आगे बढ़कर यदि आप अनुसंधान के क्षेत्र में अमर उपलब्धि करना चाहते हैं तो निरंतर साधना के द्वारा साहित्य-वर्धन की क्षमता का विकास करना होगा।

भारतीय साहित्य की मूलभूत एकता

भारतवर्ष अनेक भाषाओं का विद्यालय देश है। उत्तर-पश्चिम में पंजाबी हिन्दी और उर्दू पूर्व में उड़िया बँगला और असमिया मध्य-पश्चिम में मराठी और गुजराती और दक्षिण में तमिल तेलुगु कन्नड़ और मलयालम। इनके अतिरिक्त कतिपय और भी भाषाएँ हैं जिनका साहित्यिक और भाषा-वैज्ञानिक महत्त्व कम नहीं है—जैसे कश्मीरी डोगरी सिंधी कोंकणी तूक आदि। इनमें से प्रत्येक का, विशेषतः पहली बारह भाषाओं में से प्रत्येक का अपना साहित्य है जो प्राचीनता वैविध्य भूख और परिमाण सभी की दृष्टि से भरपूर समृद्ध है। यदि प्राकृतिक भारतीय भाषाओं के ही सम्पूर्ण वाङ्मय का संघनन किया जाए तो मेरा अनुमान है कि वह यूरोप के सम्मिलित वाङ्मय से किसी भी दृष्टि से कम नहीं होगा। वैदिक संस्कृत संस्कृत पालि, प्राकृतों और अपभ्रंशों का समावेश कर लेने पर तो उसका अनन्त विस्तार ब्रह्मना की सीमा को पार कर जाता है। ज्ञान का अपार सागर—हिन्द महासागर से भी गहरा भारत के भौगोलिक विस्तार से भी व्यापक हिमालय के शिखरों से भी ऊँचा और बड़ा की प्रकृति से भी अधिक गूढ। इनमें प्रत्येक साहित्य का अपना स्वतंत्र और प्रारंभ वैशिष्ट्य है जो अपने प्रदेश के व्यक्तित्व में मुद्रित है। पंजाबी और सिंधी इपर हिंदी और उर्दू को प्रथम-सीमाएँ कितनी मिली हुई हैं। किन्तु उनके अपने-अपने साहित्य का वैशिष्ट्य कितना प्रखर है—इसी प्रकार गुजराती और मराठी का जन-जीवन परस्पर प्रोत्साहित है किन्तु क्या उनके बीच कभी प्रकार की प्राति सम्मेलन है? दक्षिण की भाषाओं का उद्गमण एवम् सभी दक्षिण परिवार की विभूतियाँ हैं परन्तु क्या कन्नड़ और मलयालम या तमिल और तेलुगु के स्वरूप के विषय में संका हो सकती है? यही बात बँगला असमिया और उड़िया के विषय में सत्य है। बँगला के गहरे प्रभाव को पचाकर असमिया और उड़िया अपने स्वयं व्यक्तित्व को बनाए हुए हैं।

इन सभी साहित्यों में अपनी-अपनी विशिष्ट विभूतियाँ हैं। तमिल का

संगम-साहित्य—तेमूगु के द्वयर्षी काव्य और उदाहरण तथा धनवान-साहित्य मत्तयात्म के संवेद्य-काव्य एवं कीर-गीत (किसिप्पाट्टु) तथा मणिप्रवाहम् सैसी मराठी के पवाड़े गुजराती के धास्मान और फनु, बंगला का संगम-काव्य धसमिया के बड़बीत और बुरंभी साहित्य पञ्जाबी के रम्यास्मान तथा भीरगीत उर्दू की गबल और हिन्दी का रीतिकाम्य तथा ध्यायाबाह भावि अपने-अपने भाषा-साहित्य के वैशिष्ट्य के सम्बन्ध प्रमाण हैं।

फिर भी कदाचित् यह पार्श्वक्य धारणा का नहीं है। जिस प्रकार अनेक धर्मों विचारधाराओं और जीवन-प्रसामियों के रहते हुए भी भारतीय संस्कृति की एकता अक्षय्य है इसी प्रकार और इसी कारण से अनेक भाषाओं और अभिव्यंजना-पद्धतियों के रहते हुए भी भारतीय साहित्य की मूलभूत एकता का अनुसंधान भी सहज सम्भव है। भारतीय साहित्य का प्राचुर्य और वैविध्य तो अपूर्व है ही उसकी यह मौलिक एकता और भी रमणीय है। यहाँ इस एकता के आधार-तत्त्वों का विश्लेषण करना आवश्यक है।

वसिष्ठ म तमिस और उषर उर्दू को छोड़ भारत की लगभग सभी भारतीय भाषाओं का जन्म-काल प्रायः समान ही है। तेमूगु-साहित्य के प्राचीनतम ज्ञात कवि हैं गन्धर्व चिन्ता समय है ईसा की म्पारखी घटी। कन्नड़ का प्रथम उपलब्ध ग्रंथ है 'कविराजमान' जिसके लेखक हैं राष्ट्रकूट-वंश में नरेश नृपतुंग (८१४-८७५ ई.) और मत्तयात्म की सर्वप्रथम कृति है 'उमचरितम्' जिसके विषय में रचनाकाल और भाषा-स्वरूप भावि की अनेक समस्याएँ हैं और जो अनुमानतः तेरहवीं घटी की रचना है। गुजराती तथा मराठी का धार्मिक काल लगभग एक ही है। गुजराती का धार्मिक ग्रंथ सन् ११८५ ई. में रचित धार्मिक भास्तेवर का 'बाहुबलिउप' है और मराठी के धार्मिक साहित्य का धार्मिक बाख्शी घटी में हुआ था। यही बात पूर्व की भाषाओं के विषय में धर्य है। बँदला के चर्या-गीतों की रचना शायद १०वीं और १२वीं घताब्दी के बीच किसी समय हुई होगी धसमिया-साहित्य के सबसे प्राचीन उदाहरण प्रायः तेरहवीं घताब्दी के अन्त के हैं जिनमें सर्वश्रेष्ठ हैं हेम सरस्वती की रचनाएं 'प्रज्ञाचरित' तथा 'हूरबीरी-मवाह उड़िया भाषा में भी तेरहवीं घताब्दी में निश्चित रूप से व्यंग्यारमक काव्य और लोकगीतों के दर्शन होने लगे हैं। उषर चौखुशी घटी में तो उड़ीसा के व्यास सारनाथास का धार्मिक हो ही जाता है। इसी प्रकार पंजाबी और हिन्दी में म्पारखी घटी से व्यङ्ग्यित साहित्य उपलब्ध होने लगता है। केवल दो भाषाएँ ऐसी हैं जिनका जन्मकाल मिन है—तमिल जो संस्कृत के समान प्राचीन है (यद्यपि तमिल भाषी उषरा उद्भव और भी पहले मानत हैं) और उर्दू जिसका वास्तविक आरम्भ पन्द्रहवीं घटी से पूर्व नहीं माना जा सकता।

जन्मकाल के प्रतिरिक्त प्राच्युनिक भारतीय साहित्यों के विकास के चरण भी प्रायः समान ही हैं। प्रायः सभी का आरम्भ पन्द्रहवीं शती तक चलता है। पूर्वमध्यकाल की समाप्ति मुगल-बमब के अन्तर्गत १७वीं शती के मध्य में तथा उत्तरमध्यकाल की समाप्ति अंग्रेजी सत्ता की स्थापना के साथ होती है—और तभी से प्राच्युनिक युग का आरम्भ हो जाता है। इस प्रकार भारतीय भाषाओं के अधिकांश साहित्यों का विकास-क्रम लगभग एक-सा ही है—सभी प्रायः समकालीन चार चरणों में विभक्त हैं।

इस समानान्तर विकास-क्रम का आधार अत्यन्त स्पष्ट है—और वह है भारत के राजनीतिक एवं सांस्कृतिक जीवन का विकास-क्रम। बीच-बीच में व्यवधान होने पर भी भारतवर्ष में अठारहवीं तक समान राजनीतिक व्यवस्था रही है। मुगल शासन में तो लगभग बेड़ सी बरों तक उत्तर-दक्षिण और पूर्व-पश्चिम में घनिष्ठ सम्पर्क बना रहा—मुगलों की सत्ता अखण्ड हो जाने के बाद भी यह सम्पर्क टूटा नहीं। मुगल शासन के पहले भी राज्य-विस्तार के प्रयत्न होते रहे थे।—राजपूतों में कोई एकछत्र भारत-सम्राट् था नहीं हुआ किन्तु उनके राजवंश भारतवर्ष के अनेक भागों में शासन कर रहे थे—शामक सिम्ह होने पर भी उनकी सामन्तीय शासन-प्रणाली प्रायः एक-सी थी। इसी प्रकार मुसलमानों की सामन्य प्रणाली में भी स्पष्ट मूलभूत समानता थी। बाद में अंग्रेजों ने ता केन्द्रीय शासन-व्यवस्था कायम कर इन एकता को और भी दृढ़ कर दिया। इन्हीं सब कारणों से भारत के विभिन्न भाषा-भाषी प्रदेशों की राजनीतिक परिस्थितियों में पर्याप्त साम्य रहा है।

राजनीतिक परिस्थितियों की अनेकता सांस्कृतिक परिस्थितियों का साम्य और भी अधिक रहा है। पिछले सहस्राब्द में अनेक धार्मिक और सांस्कृतिक आन्दोलन ऐसे हुए जिनका प्रभाव भारतभरामी था। बौद्ध धर्म के ह्रास के युग में उसकी कई शाखाओं और ईश्वर-शक्त धर्मों के संयोग से नाथ सम्प्रदाय उठ खड़ा हुआ जो ईसा के द्वितीय सहस्राब्द के आरम्भ में उत्तर में तिब्बत आदि तक फैला हुआ में पूर्वी घाट के प्रदेशों में पश्चिम में महाराष्ट्र आदि में और पूर्व में प्रायः सर्वत्र फैला हुआ था। योग की प्रधानता होने पर भी इन शाखुओं की स्थापना में जिनमें नाथ, विड और ईश्वर सभी थे जीवन के विचार और ज्ञान पर ही अनेकानेक नहीं थी और इनमें से अनेक नाथ आत्मविश्वसिक एवं मिश्रित प्रतिपादन शक्तों के लिए पश्चिम में प्रकृत होते थे। भारतीय भाषाओं के विकास के प्रथम चरण में इन सम्प्रदायों का प्रभाव प्रायः विद्यमान था। इनके बाद इनके उत्तराधिकारी मंत्र-सम्प्रदायों और नवागन्त मुसलमानों के घुरी मठ का प्रसार ईसा के विभिन्न-विभिन्न भागों में होने लगा। मठ-सम्प्रदाय वेदांग दान में प्रभावित थे और निर्गुण भक्ति की स्थापना

तथा प्रचार करते थे—सूफ़ी धर्म में भी निरानार ब्रह्म की ही उपासना थी किन्तु उसका माध्यम वा उत्कृष्ट प्रेमानुभूति। सूफ़ी संतों का यद्यपि उत्तर पश्चिम में अधिक प्रसुप्त वा फिर भी शक्ति के बहमनी बीजापुर और कोलकुष्ठा राज्यों में भी इनके अनेक केन्द्र थे और वहाँ भी अनेक प्रसिद्ध सूफ़ी संत हुए। इनके पश्चात् बेखुश धीवानन का धारम्भ हुआ जो समस्त देश में बढ़े बेघ से व्याप्त हो गया। राम और कृष्ण की मूर्ति की अनेक मयूर पत्रतियों का देश भर में प्रसार हुआ और समस्त भारतवर्ष सुगुण ईश्वर के लीला-गान से गुंजरित हो उठा। उच्च मुस्लिम संस्कृति और सम्यता का प्रभाव भी गिरतर बढ़ रहा था—ईरानी संस्कृति के अनेक आकर्षक तत्व—जैसे बैभव-बिलास आसंकरण-उज्जा आदि भारतीय जीवन में बढ़-बढ़ से जुन-मिल रहे थे और एक नई दरबारी या नागर संस्कृति का आविर्भाव हो रहा था। राजनीतिक और धार्मिक परामर्श के कारण यह संस्कृति धीमे ही अपना प्रसारण प्रभाव जो बेड़ी और जीवन के उत्कर्ष एवं आनन्दमय पक्ष के स्थान पर कर्म विभासिता ही इसमें देव रह गयी। तभी पश्चिम के व्यापारियों का आगमन हुआ जो अपने साथ पाश्चात्य शिक्षा-संस्कार लाए—और जिनके पीछे-पीछे मसीही प्रचारकों ने वस भारत में प्रवेश करने लगे। उन्नीसवीं सदी में अंग्रेजों का प्रभुत्व देश में स्थापित हो गया और आसक्त धर्म सक्रिय रूप से खोजना बनाकर अपनी शिक्षा संस्कृति और उनके माध्यम से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अपने धर्म का प्रसार करने लगे। प्राच्य और पाश्चात्य के इस सम्यक और संघर्ष से आधुनिक भारत का जन्म हुआ।

भारत के आधुनिक साहित्य का विकास-क्रम भी कितना समान है। विदेशी धर्म-प्रचारकों और शासकों के प्रयत्नों के फलस्वरूप पाश्चात्य सम्यता तथा संस्कृति के साथ सम्पर्क एवं संघर्ष और अन्त में पुनर्जागरण युग का उदय राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रेरणा से साहित्य में राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना का उत्कर्ष साहित्य में नीतिवाद एवं सुधारवाद के विप्लव प्रतिक्रिया और नई रोमांसी सौन्दर्य-वृष्टि का उदये जैसे दृष्टक में साम्यवादी विचारवादा के प्रचार से दृष्टात्मक नीतिकवाद का प्रभाव इतिहास आदि के प्रभाव से नये जीवन की बीजिक कुश्रियों और स्वप्नों को उद्य-कर्म देने के नये प्रयोग और अन्त में स्वतन्त्रता के बाद विरह-वस्थापन की भावना से प्रेरित राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना का विस्तार—यही संक्षेप में आधुनिक भारतीय साहित्य के विकास की रूप-रेखा है जो सभी भाषाओं में समान रूप से लक्षित होती है।

यह साहित्यिक पृष्ठाचार को सीखिए—भारत की भाषाओं का परिवार यद्यपि एक नहीं है फिर भी उनका साहित्यिक रिक्त समान ही है। रामायण महाभारत, पुराण भागवत मस्कृत का अमिताभ साहित्य—अर्थात् बालिआस,

मूलभूत, बाण, धीहर्ष, धर्मरत्न, धीर जयदेव आदि की धर्म कृतियाँ पाणि प्राकृत तथा अपभ्रंस में लिखित बौद्ध जैन तथा धर्म धर्मों का साहित्य भारत की समस्त भाषाओं को उत्तराधिकार में मिला है। शास्त्र के अतिसूक्ष्म उपनिषद् पञ्चतन्त्र स्मृतियाँ आदि धीर उपर काव्यशास्त्र के अनेक धर्म ग्रन्थ—नाट्यशास्त्र ध्वन्यालोक काव्यप्रकाश साहित्यदर्पण रससंग्रह आदि की विचार-विभूति का उपयोग भी सभी में निरन्तर किया है। वास्तव में प्राचिन भारतीय भाषाओं के ये अत्यन्त प्रेरणा-स्रोत हैं और प्रायः सभी की समान रूप से प्रभावित करते रहे हैं। इनका प्रभाव निरन्तर ही अत्यन्त समन्वयकारी रहा है और इसके प्रेरित साहित्य में एक प्रकार की मूलभूत समानता स्वतः ही आ गई है।—इस प्रकार समान राजनीतिक सांस्कृतिक और साहित्यिक आधारभूमि पर उत्पन्न-मुद्रित भारतीय साहित्य में अत्यन्त समानता एक सहज घटना है।

यह एक हमने भारतीय वाङ्मय की केवल विषयवस्तुगत समानता रागात्मक एकता की ओर संकेत किया है। किन्तु काव्यशैलियों और काव्यरूपों की समानता भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। भारत के प्रायः सभी साहित्यों में संस्कृत से प्राप्त काव्य-शैलियाँ—महाकाव्य लघुकाव्य मूलक तथा काव्यादिक आदि के अतिरिक्त अपभ्रंस परम्परा की भी अनेक शैलियाँ जैसे अरिक्तकाव्य प्रेममात्रा-शैली रास पद-शैली आदि प्रायः समान रूप से मिलती हैं। अनेक अरिक्त छन्दों के अतिरिक्त अनेक देशी छन्द—दाहा चौपाई आदि—भी भारतीय वाङ्मय के लोकप्रिय छन्द हैं। इतर प्राचिन युग में परिचय के अनेक काव्य-रूपों और छन्दों का जैम प्रगीत काव्य और उसके अनेक शैलों सम्बन्ध-शील लोक-गीत अनुरोधपदी का और मुक्त-छन्द गद्य-गीत आदि का प्रचार भी सभी भाषाओं में हो चुका है। यही बात भाषा के विषय में भी सत्य है। यद्यपि मूलतः भारतीय भाषाएँ दो विभिन्न परिवारों—आर्य और इन्द्र परिवारों की भाषाएँ हैं फिर भी प्राचीन काल में संस्कृत पाणि प्राकृतों और अपभ्रंशों के और प्राचिन युग में अरबों के प्रभाव के कारण रूपों और शैलों की अनेक प्रकार की समानताएँ सहज ही सृजित हो जाती हैं। भारतीय भाषाएँ अपनी अत्यन्त लघु तथा साहित्यिक शैलियों के विकास के लिए, अत्यन्त अल्प और पर्याय का सिद्ध तथा नवीन शब्द-निर्माण के लिए निरन्तर संस्कृत के शब्दों का उपयोग करती रही हैं—और आज भी कर रही हैं। इतर वर्तमान युग में अरबों का प्रभाव भी अत्यन्त स्पष्ट है। अरबों की साहित्यिक और शैलीगत शक्ति बहुत विकसित है। विद्युत् २० वर्षों में भारत की सभी भाषाएँ उसी शैली प्रयोग अंगीकारों मुहावरों उपचार-व्यंग्यों को लक्ष्य कर रही हैं। उधर अब पर तो अरबों का प्रभाव और भी

अधिक है—हमारी वाक्य रचना प्रायः संश्लेषी पर ही आधारित है। यद्यपि इन प्रयत्नों के फलस्वरूप साहित्य की माध्यम भाषा में एक नई प्रांतरिक समानता मिलती है जो समान विषय-वस्तु के कारण घोर भी दृढ़ हो जाती है।

इस प्रकार वह विश्वास करना कठिन नहीं है कि 'भारतीय वाङ्मय अनेक भाषाओं में अतिव्यक्त एक ही विचार है।' इस का यह दुर्भाग्य है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति तक विदेशी प्रभाव के कारण अनेकता को ही बल मिलता रहा है। इसकी मूलबर्ती एकता वा सम्यक अनुसंधान अभी होगा है। इसके लिए अत्यन्त निस्वयं भाव से सत्य-सोध पर दृष्टि केन्द्रित रहते हुए, भारत के विभिन्न साहित्यों में विद्यमान समान तत्त्वों एवं प्रवृत्तियों का विविध अध्ययन पक्षी भावश्यकता है। यह कार्य हमारे अध्ययन और अनुसंधान की प्रणाली में परिवर्तन की अपेक्षा करता है। किसी भी प्रवृत्ति का अध्ययन केवल एक भाषा के साहित्य तक ही सीमित नहीं रहना चाहिए—वास्तव में इस प्रकार का अध्ययन अत्यन्त अपूर्ण रहेगा। उदाहरण के लिए मधुरा भक्ति का अध्येता यदि अपनी परिधि को केवल हिन्दी या केवल बँगला तक ही सीमित कर ले तो वह सत्य की ओर से असफल रहेगा—उसे अपनी भाषा के अतिरिक्त अन्य भाषाओं में प्रवाहित मधुरा भक्ति की धारा में अन्वेषण करना होगा—गुजराती उड़िया असमिया तमिल तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम सभी की तो भूमि मधुरा रस से आर्णवित है। एक भाषा तक सीमित अध्ययन में स्पष्ट अनेक छिद्र रह जायेंगे। हिन्दी साहित्य के इतिहासकार को जो अनेक बटनाएँ सामोमिक-सी प्रतीत होती हैं वे वास्तव में ऐसी नहीं हैं। प्राचार्य मुसक को हिन्दी के जिस विकास गीठ-साहित्य की परम्परा का मूल स्रोत प्राप्त करने में कठिनाई हुई थी, वह अथवा के अतिरिक्त बहिरंग की भाषाओं में और बँगला में उद्भव ही मिस जाता है। मूर का वास्तव्य-वर्णन हिन्दी काव्य में बढते वास्तो आकस्मिक या ऐकान्तिक बटना नहीं थी गुजराती कवि भागण ने अपने आख्यानों में पन्द्रहवीं शती के मलयालम कवि ने कुप्पागाबा में असमिया कवि माधव देव ने अपने बङ्गीतों में अत्यन्त मनोवोधपूर्वक कुप्पु की वास्त सीलाओं का वर्णन किया है। भारतीय भाषाओं के समायुक्त और महान्वाक्य काव्यों का तुलनात्मक अध्ययन न जाने कितनी समस्याओं को अनावृत ही मुक्त कर रस देता है। उन्माक्यात काव्यों की अगणित कथातक-कविता विविध भाषाओं के प्रेमाक्यात-काव्य का अध्ययन किए बिना स्पष्ट नहीं हो सकती। सुषी काव्य के मर्म को समझने में पारसी के अतिरिक्त उत्तर-पश्चिम की भाषाओं—बम्बयी सिंधी पंजाबी और उर्दू में विद्यमान तत्त्वमन्वी साहित्य से अमूल्य सहायता प्राप्त हो सकती है। तुलसी के रामचरित-मानस में राम के स्वल्प की प्रकृता को हृद्यत किए बिना अनेक भारतीय भाषाओं

के रामकाम्य का अध्ययन संपूर्ण ही रहेगा। इसी प्रकार हिन्दी के अष्टधाप कवियों का प्रभाव बंगाल और पुनरात तक अव्यक्त रूप से व्याप्त था—वहाँ के कृष्णकाम्य के सम्यक विवेचन में इनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इस अंतःसाहित्यिक घोष प्रणाली के द्वारा अनेक शुष्क कविता घनायास ही मिल जायेगी अगणित जिज्ञासुओं का सहज समाधान हो जाएगा और उपर भारतीय चिन्ताधारा एवं रामात्मक चेतना की अवलम्ब एकता का उद्घाटन हो सकेगा।

किन्तु यह कार्य जितना महत्त्वपूर्ण है उतना ही कठिन भी। सबसे पहली कठिनाई तो भाषा की है। अभी तक भारतीय अनुसंधानार्थों का मात्र प्रायः अपनी भाषा के अतिरिक्त अंग्रेजी और संस्कृत तक ही सीमित है—प्रादेशिक भाषाओं से उनका परिचय नहीं है। ऐसी स्थिति में डर है कि प्रस्तावित योजना नहीं पुष्प इच्छा मात्र होकर न रह जाए, पर यह बाधा अज्ञेय नहीं है। व्यवस्थित प्रयास द्वारा इसका निराकरण करना कठिन नहीं है। कुछ भाषाज्ञों तो ऐसे हैं जिनमें अत्यल्प अध्ययन से काम चल सकता है। उनमें तो अन्तर्गत—यहाँ तक कि सिन्धुतट भी आबस्यक नहीं है। जैसे बँगला असमिया और उड़िया में या हिन्दी और मराठी में या तेलुगु और कन्नड़ में कुछ अर्थों अथवा अर्थ-रूपों के अर्थ आदि देकर काम चल सकता है। हिन्दी उर्दू और पंजाबी में सिन्धुतट और कठिन वाक्यांश स समस्त्य सुमरु सकती है। यही हिन्दी और पुनराती तथा तमिल और मसयामम के विषय में प्रायः सत्य है। अन्य भाषाओं के लिए अनुवाद का आशय लिया जा सकता है। इसके अतिरिक्त साहित्यिक इतिहास परिचय सुमनारमक अध्ययन, तुलनात्मक अनुसंधान अंतःसाहित्यिक गोष्ठियों आदि की सम्यक व्यवस्था द्वारा परस्पर आदान-प्रदान की सुविधा हो सकती है। आत्र देश में इस प्रकार की चेतना प्रबुद्ध हो गई है और कतिपय सम्पूर्ण इस दिशा में अग्रसर हैं। किन्तु अभी तक यह अनुष्ठान अपनी आरम्भिक अवस्था में ही है—इसके लिए जैसे व्यापक एवं संगठित प्रयत्न की घोषणा है वैसे आयोगन अभी हो नहीं रहा। फिर भी 'भारतीय साहित्य की चेतना की प्रवृत्ति ही अपने आप में शुभ सन्तान है। भारत की राष्ट्रीय एकता के लिए सांस्कृतिक एकता का आधार अनिवार्य है और सांस्कृतिक एकता का सबसे बड़ा एवं स्थायी आधार है साहित्य। जिस प्रकार अनेक निरुणावाधियों की आर्षवाधों को विचलन करता हुआ भारतीय राष्ट्र निरन्तर अपनी अवलम्बता में उभरता आ रहा है, इसी प्रकार एक समजित हवाई क रूप में 'भारतीय साहित्य' का विकास भी धीरे-धीरे हो रहा है। यदि मूलवर्ती चेतना एक है तो भाष्यम का भेद हाते हुए भी साहित्य का अस्मक रण भी अस्मक नहीं हो सकता।

भारतीय साहित्य पर रवीन्द्रनाथ का प्रभाव

रवीन्द्र-जयन्ती का आयोजन जिस उत्साह और उत्साह के साथ जिस व्यापक रूप में पूरे राजकीय वैभव के साथ हो रहा है वह हमारे देश के साहित्यिक इतिहास में असूतपूर्व घटना है। एक ओर हमारे लिए वहाँ यह गौरव का विषय है कि एक कवि-कलाकार को इस प्रकार का राजकीय एवं वैश्व्यापी सम्मान दिया जा रहा है वृत्ती ओर हमें इस प्रकार के राजनीतिक आयोजनों के साहित्यिक प्रभावों के प्रति भी सतर्क होना की आवश्यकता है। इस प्रकार के राजनीतिक कोलाहल से कई धनिष्ठ हो सकते हैं। एक तो यह कि स्वयं रवीन्द्र-साहित्य के प्रसारण की अपेक्षा हो जाए और 'बहु निम्न मानव के' 'अंतर्राष्ट्रीय पुस्तक के' 'महान शिखादि के' सिद्ध दार्शनिक के 'अद्वितीय बन सकने के'—येसे या इस प्रकार के अन्य कारणों के बीच उनका कलाकार ही हो जाए और दूसरा यह कि राजनीतिक रंग में रंगे हुए इस प्रकार और प्रसार के फलस्वरूप रवीन्द्र साहित्य का इतना अधिक प्रतिमुख्यता किया जाए कि देश की अन्य साहित्यिक विद्वतियों रवीन्द्रनाथ की उपजीवी या उपग्रह बनकर रह जाएं। एक वाक्य में इस प्रकार के अतिरंजित प्रयत्नों से साहित्य के क्षेत्र में भी राजनीतिक मूल्यों का प्रवेश होने की घातकता हो जाती है। अतः भारतीय साहित्य पर रवीन्द्रनाथ के प्रभाव का मुख्याकार राजनीतिक प्रकार भावना से मुक्त होकर, उचित साहित्यिक परिप्रेक्ष्य में करना चाहिए और यह समझकर घामे बढ़ना चाहिए कि रवीन्द्रनाथ ने बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में जिस घालोक का विवरण किया वह उन्हें प्राचीन भारत की महान् परम्परा से उत्तराधिकार में प्राप्त हुआ—वह घालोक भारत के अन्य साहित्यकारों को भी प्राप्त था जिन्हें स्वदेश-विदेश की काव्य-परम्परा के साथ रवीन्द्रनाथ की प्रतिभा का अतिरिक्त बरदान भी मिला।

अंग्रेजी घालापना में कुछ कवियों के लिए एक प्रशस्ति का प्रयोग किया जाता है—पोइट्स पोइट कवियों का कवि। अथवा संस्कृत पर्याय बनता है

'कबीरों कवि' किन्तु संस्कृत सासोचना में इस धर्म में 'कबिकुसुमगुरु' का प्रयोग हुआ है, 'कबीरों कवि' का नहीं। 'कबिकुसुमगुरु' या 'कवियों के कवि' पद की व्याख्या दो प्रकार से की जा सकती है—एक ठोस कवि जो परवर्ती कवि-परम्परा को काव्य-वस्तु प्रदान करता है या काव्य-वस्तु के नव निर्माण की प्रेरणा देता है दूसरा वह कवि जो काव्य-सामग्री-विशेषतः काव्य-विम्ब प्रदान करता है अथवा काव्य-विम्बों के नवनिर्माण की प्रेरणा देता है। वाल्मीकि और व्यास पहली काटि के कवि हैं कालिदास दूसरी के। किन्तु जहाँ तक मुझे स्मरण है संस्कृत काव्य-परम्परा ने कालिदास को ही कबिकुसुमगुरु की उपाधि से श्रुति दिया है—'भासो हास' कबिकुसुमगुरु कालिदासो विनाम—स्वयं कालिदास को काव्य-वस्तु का दान करनेवाले वाल्मीकि और व्यास का अग्रय मघोमान करन पर भी उन्हें 'कबीरों कवि' का पर्याय-वाचक 'कबिकुसुमगुरु' विशेषण नहीं दिया। इनका अभिप्राय यह है कि 'कबिकुसुमगुरु' या 'कबीरों कवि' का प्रयोग प्रायः दूसरे धर्म में अर्थात् काव्य-सामग्री या काव्य-विम्ब प्रदान करनेवाले ऐसे कवि के लिए ही किया गया है जो अतिशय भाव-वैभव और कल्पना-विकास से मण्डित हों—जिनके प्रचुर भंडार से अग्र कवि अपने काव्य कोष को परिपूर्ण करते हों। इस धर्म में भारतीय साहित्य में कालिदास के उपरान्त 'कबीरों कवि' विशेषण के अधिकारा केवल रबीन्द्रनाथ ही हैं यद्यपि देश की अनेक भाषाओं में ऐसे अनेक महाकवि हुए हैं जिन्हें रबीन्द्रनाथ क मम प्रतिम मानने में कटिनाई नहीं हानी चाहिए।

रबीन्द्रनाथ मूलतः कवि थे। जीवन के जिस समय का उनका कवि के कल्पना और अनुभूति द्वारा साक्षात्कार किया उसीका वे अनेक माध्यम प्रकारों से व्यक्त करते रहे। विन्ध के किरीणों बंध में धारणा के स्पन्दन को भाव-प्रतिष्ठ बलना और फिर कल्पना-समृद्ध अनुभूति से प्राप्त कर उन्होंने अनेकता में एकता के त्रिम सत्य को स्वानुभूत किया वही द्युत क दास में सर्वप्रथम बाद सन्कृति के बराठल पर विरचमानतावाद और राजनीति के राज में अन्तर्दृष्टिवाद का रूप धारण कर उनके सम्पूर्ण ब्राह्मण में पुणित होता रहा। इन प्रकार की अनुभूति स्पष्टतः एक प्रकार की रहस्यानुभूति है जो एक और विशार और विवेक की बौद्धिक सीमाओं को और दूनरी धार ऐन्द्रिय अगत के भीतिक बन्धनों को बाहर खेतना क घटन गहर में जन्म लेती है—धाप उमे आत्मा या जिति कहे या केवल जेतना मात्र। रबीन्द्रनाथ की काव्यानुभूति का यही मूल अद्यतन वा। इसलिए उनकी काव्यानुभूति मूलतः रहस्यानुभूति है और उनकी काव्य-नीती का निमाण स्वभावतः रहस्यानुभूत तत्त्वों का हुआ है। भारतीय साहित्य पर उनके प्रभाव का आरम्भ गीतांजलि की पुरुभूति क पञ्चात् ही माना जा सकता है। भारतीय काव्य प्रतिभा को वह सार्वभौम स्वीकृति देने

देश के साहित्यिक इतिहास की समूहपूर्व बटना भी जिसका प्रभाव पड़ना पनि
बाये था ।

हिन्दी साहित्य में इस समय बायरण-मुबार के नैतिक धारणों से मुक्तित
द्विबेदी-युग बन रहा था जिसकी दृष्टि सर्वथा यहिमुंसी भी और जिसकी धमि
म्यक्ति का रूप इतिहासकारक था । रीति-नाम्य की परिचित रस-भूमि को धर्नैतिक
धौर रोय-प्रस्त मानकर हिन्दी का कवि त्याग चुका था । किन्तु उसके स्वान
पर मधीन रस-भूमि का अनुसंधान वह कर नहीं पाया था । धन्तमुंख जीवन के
दुष्परिणामों से पीड़ित भारतीय चेतना जीवन और व्यत् के मन्तनय प्रसार
के साथ साधारण्य स्थापित करने के लिए संघर्ष कर रही थी । सामाजिक जीवन
के कस्याण की ओर उन्मुख धनेक धाशोक्तन साहित्य में भी प्रतिध्वनित हो रहे
थे किन्तु ऐसा लगता था जैसे कि वे विवेक के स्तर से ही टकराकर झूट धाते
हैं । बँगला-साहित्य में भी बहुत-कुछ ऐसी परिस्थिति थी जिसके विरुद्ध रबीन्द्र
नाथ की काव्य-चेतना ने विरोह किया था । हिन्दी कविता में 'पीताम्बलि' की
प्रसिद्धि के प्रासपास ही इस प्रकार की प्रतिक्रिया होने लगी थी । प्रसार की
धार्मिक रचनाओं में सामाजिक काव्याध्यों से कूठित कवि चेतना की यह
व्यपत्ता व्यक्त हो रही थी । भावना और विवेक का यह संघर्ष चेतना के विकास
का चिरवन सत्य है न वह धाकस्मिक बटना है और न किसी व्यक्ति-विधेय
की सृष्टि । भारतीय चेतना स्वूम धौर सूक्ष्म बहिरंग धौर धंतरंग की क्रिया-प्रति-
क्रिया में स मुञ्चली हुई ऐसी परिस्थिति में पठुच गई थी जहां बहिर्मुख नैतिकता
धौर मन्तन साधना के विरुद्ध धन्तमुंख भावना तथा रहस्य कल्पना की प्रतिष्ठा
धबल्यम्भाधी थी । रबीन्द्रनाथ गुणारना की इस पुकार के धपने प्राय में सबसे
प्रबल प्रतीक थे धौर बूचों के लिए प्रेरणा-स्रोत भी बन गए थे । मेरे कहने
का धमिप्राय यह है कि हिन्दी कविता में द्विबेदी काव्य के विरुद्ध प्रतिक्रिया-
रूप ध्यायाबाध का जन्म होना धबल्यम्भाधी था धौर उसके लिए न केवल भूमि
तैमार हो गई थी बल् धकुर भी फूटने लय गए थे—रबीन्द्रनाथ के बढे हुए
प्रकाश ने उनका पोषण किया धौर ध्यायाबाध का विकास बड़े धेम से हुआ
इसमें सन्देह नहीं । ध्यायाबाध की रोमानी प्रवृत्तियों की समृद्धि का धेय निरन्धन
ही रबीन्द्रनाथ को है धौर पन्त निराला महादेवी जैसे समर्थ कवियों ने प्रत्यध
एध धप्रत्यध रूप से उनसे प्रेरणा तथा बल प्राप्त किया । पन्त की धार्मिक
कविताओं में रबीन्द्र-काव्य की धनुबूध मिलती है जिसको लेकर निराला ने एक
बड़े लम्बे लेख में यह सिद्ध करने का निरर्थक प्रयास किया था कि पन्त न केवल
मूल प्रेरणा के लिए बल् धनेक भाव-ध्यायाधों धौर विन्ध-धोचनाधों के लिए
रबीन्द्रनाथ के आणी हैं । बास्तव में उस समय ध्यायाबाध को रबीन्द्र-काव्य की
नकल मानने का कुछ ऐसा प्रवाद चल पड़ा था कि हिन्दी के धालोचक विना

किसी आचार के छायावादी कवियों पर रबीन्द्रनाथ का अनुकरण करने का आरोप मचा रहे थे। पंथ की अपेक्षा निरासा का रबीन्द्र-नाथ्य से अधिक धनिष्ठ और प्रत्यक्ष परिचय था। बँगला एक प्रकार से उनके लिए मानूभाषा थी और रबीन्द्र-नाथ्य की अर्थ-सूत्रियाँ तथा प्रयोग-वक्रताएँ उनकी कवि चेतना में सहज रूप में रम गई थी। किन्तु निरासा में आरंभ से ही बाह्य प्रभाव के प्रतिरोध का इतना उत्कण्ठ आग्रह था कि उनके काव्य में रबीन्द्रनाथ का प्रत्यक्ष प्रभाव इतना निकामना कठिन है। फिर भी यह तो स्वीकार करना ही होगा कि निरासा की कवि चेतना का आरम्भिक विकास जिस साहित्यिक वातावरण में हुआ उसके निर्माण में रबीन्द्रनाथ का प्रमुख योगदान था। महादेवी ने भी निरक्षय ही यह प्रेरक प्रभाव ग्रहण किया। किन्तु उनकी प्रगीत-कला का विकास बहुत कुछ स्वतंत्र रूप में ही हुआ। वास्तव में छायावाद पर रबीन्द्रनाथ के प्रभाव का उचित मूल्यांकन आरम्भ में इसलिए नहीं हो सका कि उस समय छायावाद के स्वरूप के विषय में अनेक प्रकार की भ्रांतियाँ फैली हुई थीं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उसे एक ओर जहाँ रहस्यवाद का ही प्रतिरूप माना वहाँ दूसरी ओर उसे अतिस्वभाव का प्रकार मात्र घोषित किया। शुक्ल जी स्वभाव और सिद्धान्त दोनों से रहस्यवाद के विरुद्ध थे। वर्तन के क्षेत्र में वे अस्वभाव के अत्यन्त प्रसार पर दुःख थे। भाषना के क्षेत्र में लोक-मनसकारी नतिक अनुभूतियों को और कला के क्षेत्र में बहु मूर्त सौन्दर्य-बोध को ही प्राथमिक महत्त्व देते थे। छायावाद में एक प्रकार से इन चीजों का ही निषेध था—इसलिए वह आचार्य का अनुग्रह भाजन न बन सका। छायावाद का विरोध करते करते वह उसके प्रेरक साथ रबीन्द्र-नाथ्य तक पहुँचि। उनके सामने सबसे बड़ी समस्या थी आधुनिक कवि की रहस्यानुभूति। जब मध्य युग के कबीर आदि निर्गुण साधकों में भी उसे यथावत् स्वीकार करने में उन्हें आपत्ति होती थी तो आधुनिक विज्ञान-युग के कवि की रहस्यानुभूति को स्वीकार करना तो और भी कठिन था। इसलिए हिन्दी के उदीयमान कवियों को तो उन्होंने अनुवर्तमाना कहकर उपेक्षा कर दी थी, साथ ही विश्वविख्यात रबीन्द्रनाथ की रहस्यानुभूति पर भी प्रत्यक्ष चिह्न लगा दिया। रबीन्द्रनाथ की प्रतिभा से हतप्रभ होकर उन्होंने अपनी आराधनाओं में लक्ष्य बनाना स्वीकार न किया और उन्हें रहस्यवादी की अपेक्षा महान आत्मचार्तिक मानना ही अधिक उपयुक्त समझा। अर्थात् रहस्यवाद की रहस्यानुभूतियों को उन्होंने अनुभूति-शक्ति न मानकर अतिस्वभाव की विभूति ही अधिक माना। इस प्रकार आचार्य शुक्ल ने न केवल छायावाद का ही विरोध किया बल्कि हिन्दी कविता पर रबीन्द्रनाथ के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने का भी प्रयत्न किया। बाद में चलकर जब छायावाद का स्वरूप स्पष्ट रूप से प्रकट हुआ तो निरासा का प्रभाव ही छायावाद के निर्माण में

का स्वामादिक विकास है—तो यह स्वीकार करने में बेर न लनी कि काव्य की प्रत्येक प्रवृत्ति की भाँति मध्यमि छायावाद ने भी जबर धरेखी को रोमानी कविता और इतर रबीन्द्रनाथ की कविता से धारम्भिक प्रेरणाएँ प्राप्त की थी—फिर भी वह उनकी छायावाद नहीं है। तन्म्य वास्तव मे यह है कि पहले रबीन्द्रनाथ ने रोमानी कवियों से प्रेरणा ग्रहण की और फिर हिन्दी कवियों ने बहुत कुछ प्रत्यक्ष रूप में और अंततः रबीन्द्रनाथ के माध्यम से भी अपने विकास के पहले चरण में उनका प्रभाव ग्रहण किया। छायावाद का जन्म होने तक रबीन्द्रनाथ बिदेखी काव्य ने उस प्रभाव को धारमसात् कर चुके थे। उनकी महान् प्रतिभा हीसे और कीदृश की किशोर कल्पनाओं को तब तक बिराट् भारतीय धाधार फसक प्रदान कर चुकी थी और अरेखी की काल्पाक अविभाओं को संस्कृत के ऐश्वर्य से मडित कर चुकी थी इसलिये हिन्दी-कवियों का कार्य अवेकाकृत सुकर हो गया।

किन्तु यह सब होते हुए भी छायावाद के अग्रणी कवि प्रसाद इन दोनों प्रभावों से मुक्त रहे—म उन्हाम अरेखी के रोमानी कवियों का अणु स्वीकार किया और न रबीन्द्रनाथ का ही। रबीन्द्रनाथ ने जहाँ पाश्चात्य रोमानी प्रभाव को वासिदास की रमणीय कल्पनामा में बाककर उन्हें भारतीय काव्य-वेतना का अंग बना लिया था वहाँ प्रसाद की प्रेरणा का मूल स्रोत दुष्ट भारतीय ही रहा। अपने युग के रोमानी वातावरण से प्रेरित होकर वह पश्चिमी साहित्य की ओर नहीं गए बरन् भारत के प्राचीन साहित्य में बिखरे हुए रम्यायुत तर्कों का संधान करने लगे जिसकी चरम परिणति हमें 'कामायनी' में मिलती है। इसलिये प्रसाद की काव्य वेतना रबीन्द्रनाथ की काव्य-वेतना की अवेला प्रतिक भारतीय और उसी सीमा तक अतिक मोलिक है। हिन्दी न सम्यक् प्रचार और प्रसार के उपरान्त जब भारतीय भाषाओं में 'कामायनी' के महत्त्व की अचित प्रतिष्ठा हो सकेखी उस समय मुझे बिस्वास है कि मेरी स्वापना की सत्यता अनावास ही सिद्ध हा जाएगी।

हिन्दी की भाँति अन्य भाषाओं के काव्य पर भी रबीन्द्रनाथ का प्रभाव स्पष्ट है। प्रायः सभी भाषाओं में 'गीतावलि' का अनुवाद हुआ कुछ भाषाओं में सीने बंगमा से और कुछ में अरेखी से। कुछ में केवल पद्यानुवाद ही हुए किन्तु कतिपय भाषाओं में अणु का माध्यम भी ग्रहण किया गया जैसे मराठी में ठेनुगु में हिन्दी में। सीध ही भारतीय कवियों ने यह अनुभव किया कि 'गीतावलि' रबीन्द्रनाथ की सर्वश्रेष्ठ कृति नहीं है और अन्होंने कवि की अन्य समृद्ध रचनाओं का मूल अवेला अनुवाद में अण्ययन किया जिसके परिणाम स्वरूप भारतीय काव्य में एक नवीन रहस्योन्मुग सीन्वय-दृष्टि का उमेष हुआ। ठेनुगु में रायप्रोनु मुन्बाराव और अण्णुटी रामदृप्य राव की कविताएँ इस नव

भाव से मंडित हैं। मसयासम में सकर कुरूप, असन उत्सुर धीर कम्नइ में कुबेम्पु, बेन्ने तथा गोकाक इस प्रकृति के प्रतिनिधि हैं। वेन्ने में रबीन्द्रनाथ का अस सौन्दर्य-संपीठ धीर कुबेम्पु तथा गोकाक में बगसा कवि की असीन्द्रिय अस्वोन्मुख सौन्दर्य-दृष्टि का सम्प्रेषण है। मराठी में 'गुडमुंजन' नाम से जिस नाम्य रक्ष्य प्रकृति का जन्म हुआ उसका प्रेरणा-स्रोत रबीन्द्र-काव्य ही था। देशबसुठ ताम्बे बी, धीर अथर बिबर्म कवि अनिस गुणवन्त हनुमन्त देशपाठे नामन नारायण देशपाठे प्रादि की रमणीय नामबी भाव-बस्तु तथा रम्याद्भुत बिम्ब-योचनाओं में भी यह प्रभाव क्लित होता है। गुजराती में भी इस वर्ग के कवि हैं स्नेहरसिम प्रह्लाद परीय प्रादि। काम्न् ने मीतांजलि की निर्गुण भावना से प्रेरित होकर उसका अनुवाच में अनुबाध किया। उत्तर पश्चिम की भाषाओं में पनाबी के भाई बीरसिंह मूकठ' विक्रम पुराओं की निर्गुण भक्ति से प्रेरित होने पर भी रबीन्द्रनाथ के सौंदर्य-वर्णन से प्रभावित हुए। उर्दू कविता में यद्यपि सूफी-काव्य परम्परा के प्रभाव के कारण बगसा कवि की मधुर रक्ष्य भावना एकदम गई नहीं थी फिर भी बीसबीं शताब्दी के दूसरे बराक में रबीन्द्रनाथ का प्रभाव पड़े बिना नहीं रहा और नियाम फ़ोहपुरी ने सन् १९१४ में गीतांजलि का अत्यन्त रसमय गद्य में अनुबाध प्रस्तुत किया। उर्दू साहित्य में 'धरवे मठीफ' नाम से एक नई विधा का जन्म हुआ जो हिन्दी गद्य-काव्य का पर्याय था। इसकी प्रेरणा मिली मीतांजलि के अयेबी गद्यानुवाद से। सन् १९३३ में सांठिनिकेतन क मौसबी जियाउद्दीन ने 'कसामे टैमोर' शीर्षक से मूल बँससा से अनुबित कवि की १२० कविताओं का संकलन प्रस्तुत किया। अशरफस प्रभाव या प्रेरणा की दृष्टि से भी उर्दू काव्य पर रबीन्द्रनाथ का प्रभाव पड़ा किन्तु वह प्रायः सामान्य कवियों तक ही सीमित रहा। पूर्वी भाषाओं में अड़िया के 'सकुन बर्य' क कवि धीर अशमिया के हितेश्वर बरबरधा यतीन्द्रनाथ दुबाठ तथा देवकान्ठ बहधा जैसे कवि-कलाकारों में रबीन्द्र का प्रभाव स्पष्टतः अपमय होता है। बहने का तात्पर्य यह है कि बीसबीं शताब्दी के दूसरे, तीसरे धीर बीये बराक में भारतीय साहित्य में जिस स्वच्छन्दतावाणी काव्य प्रकृति का जन्म धीर विकास हुआ उसके प्रेरक प्रभाव यद्यपि अनेक थे जैसे कि अयेबी रोमासी-नाम्य मध्यपुग का अन्तकाव्य धीर सुफीकाव्य फिर भी उसका अष्टा नहीं तो मैता रबीन्द्रनाथ को निरक्षय ही मानना पड़ेगा।

रबीन्द्र-नाम्य का दूसरा प्रमाण स्वर है सांस्कृतिक-राष्ट्रीय काव्य। सांस्कृतिक पराठम पर रबीन्द्रनाथ ने मानवता के अर्थक रूप की प्रतिष्ठित कर देउ नाम कालि बर्य द्वारा अक्षिमन् एवं अक्षिठ मानव-अरिमा का यजोमान किया राजनीतिक धीर सामाजिक अड़ियों ने अन्त मनुष्य में प्रच्छन्न देवता का उन्पाटन किया। भारत के वे कवि भी जो रक्ष्य अष्टा नहीं थे अथवा अक्षय

दर्शन में बिनकी घास्था नहीं थी जो प्रत्यक्ष धीरे मूर्त बीबन-व्यवस्था के प्रति निष्ठावान् के रबीन्द्र-काम्य के इस रूप की धीरे भाङ्ग हुए। विश्व-मानव या सांस्कृतिक मानव का यह रूप निश्चय ही बड़ा भव्य था। इधर बिदेसी बासला से आक्रान्त भारतीय जन-मानस ने धीरे उभर मौमिक संघर्ष से जर्जर पश्चिम के प्रबुद्ध समाज ने इसका मुक्त हृदय से स्वागत किया। बंदिश राष्ट्रीयता से भयङ्क घञ्चञ्च मानव-संस्कृति की कल्पना जिसका निर्माण विश्व-कवि की शार्ब भीम प्रतिभा ने उपनिषद् की घञ्चञ्च-कल्पना धीरे उससे प्रभावित मध्ययुग के संत काम्य इष्ट की मधुर कल्पना में सांसारिक बिदेव को निमज्जित करनेवाली वैष्णव भावना बुद्ध की बिदेव-कल्पना धीरे पश्चिम की मानवतावादी बिचार धारा के उदात्तानिक तर्कों द्वारा किया या हमारे कवि-कलाकारों के लिए अलग प्रेरणा-स्रोत बन गई। राष्ट्रीय धरातल पर भी कवि ने अनेक संस्कृति-धाराओं के समय में ऐसे ही भारत-तीर्थ की कल्पना की। २०वीं शती के पूर्वार्ध में संपूर्ण भारतीय बाङ्गमय में राष्ट्रीय-सांस्कृतिक काम्य की यह धारा अत्यन्त कल्पनों के साथ प्रवाहित होती रही। तमिल के भारती मलयालम के बल्लोल गुजराती के उमाशंकर जोशी मराठी के नेशचमुठ तथा गोविन्दाप्रब हिन्दी के मैथिलीधरण गुप्त मालगलाल जनुबेबी सिमारमधरण मुठ पठ नबीन दिनकर भावि उर्दू के अकबरस पंजाबी के सुरमुर्षासिंह मुसाफिर, हीरासिंह 'बर्द' भावि नै अपने काम्यों में बिभिन्न भविष्यार्थों के साथ इस स्वर को मुखरित किया। इन कवियों ने बास्तव में रबीन्द्रनाथ से सीधा प्रभाव ग्रहण नहीं किया अपने-अपने क्षेत्र में वे सभी 'साङ्गकेकमाम' थे। किन्तु माव-कल्पना के क्षेत्र में रबीन्द्रनाथ ने धीरे बिचार तथा कर्म के क्षेत्र में जोशी ने जो राष्ट्रीय-सांस्कृतिक बातावरण तैयार किया था उसका नाम इन सभी कवियों ने ग्रहण किया। जोशी ने देश की आत्मा को प्रबुद्ध कर उसमें जो उरसाह-स्पृति एवं कर्म-बेतना उत्पन्न की थी रबीन्द्रनाथ ने बंभवपूर्ण भारतीय संस्कृति के रंगों से उसे जगमग कर दिया धीरे इस प्रकार कर्म का तेज भावना तथा कल्पना के ऐश्वर्य से मंजित हो गया। युग-कर्म से प्रेरित रबीन्द्रनाथ ने काम्य-रसायन की यह प्रक्रिया पूर्ण कर बाबरल-युग के भारतीय कवियों का मार्ग प्रदर्शन किया।

आधुनिक युग के तीसरे चरण में रबीन्द्रनाथ का भारतीय कविता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। जिस प्रकार स्वयं बंगला में उनकी कविता के बिद्व प्रतिक्रिया हुई उसी प्रकार भारतीय भाषाओं के काम्य में भी अपनी-अपनी परिधि के भीतर रोमानी प्रकृति के बिद्व बिद्रोह हुआ जो आज भी चल रहा है।

यद्यपि क्षेत्र में रबीन्द्रनाथ का प्रभाव, धारम्भ से ही बहुत कम रहा। भारतीय उपन्यास-कला ने बहुत तीव्र ही युग-बीबन की बड़ती हुई मांग को स्वीकारकर बंगला उपन्यास की रंभीन भाङ्गकता का त्याग कर दिया धीरे

गांधी-संज्ञ से प्रभावित आदर्शों-मूलक यथार्थवाद की स्वस्थ भूमिका पर अपना स्वतंत्र विकास किया। हिन्दी में प्रमचंद ने इस प्रवृत्ति का नेतृत्व किया गुजराती में रमखुसास वसन्तवास देसाई ने और मराठी में हरितारामण घाटे ने। इन उपन्यासकारों का प्रभाव अपनी-अपनी भाषाओं से बाहर भी पड़ा। उदाहरण के लिए उर्वू और पंचाबी पर प्रमचंद का गहरा प्रभाव था। आगे चलकर इस विवेक-सम्मत उपयोगितावादी दृष्टिकोण के विरुद्ध जब हूबय की कोमल वृत्तियों ने विद्रोह किया तब भी धरतू की धारम-मीडनमयी कला का भीगा प्रभाव ही भारतीय उपन्यास ने अधिक ग्रहण किया। बाद में तो मार्क्स तथा फ्रायड की विचार-आराए बंधना-उपन्यास की तरह भारत को विभिन्न भाषाओं के उपन्यास-साहित्य पर भी व्यापक एवं गहरा प्रभाव डालने लगी। इस प्रकार भारतीय उपन्यास विचार के क्षेत्र में गांधी मार्क्स तथा फ्रायड का घोर कला के क्षेत्र में प्रेमचन्द, शास्वताय धरतू तथा जारेन्स आदि का जितना श्रेणी है उतना रबीन्द्रनाथ का नहीं। नाटक के क्षेत्र में भी यही बात है। भारतीय नाट्य साहित्य को संस्कृत की शास्त्रीय परम्परा से रोमाञ्चिक ड्रामा के नाट्य-विश्व की घोर उन्मूलक करने में बमला के द्विबेन्द्रनाथ राम का ही योगदान अधिक है। हाँ भारतीय सद्यु कथा रबीन्द्रनाथ की कही अधिक श्रेणी है। प्रापुनिक कहानी में कविता समत मानव तत्त्व और प्रतीकारमनता के लिए रबीन्द्रनाथ का प्रभाव उत्तरदायी हो सकता है क्योंकि रबीन्द्र साहित्य में सबसे अधिक अनुवाद उनकी कथों के ही हुए हैं। इस व्यापक प्रसार और प्रसार का परिणाम स्पष्ट था और स्वयं प्रेमचंद जैसे कथाकार को जितना दृष्टिकोण सर्वथा भिन्न था कहानी के क्षेत्र में रबीन्द्रनाथ का प्रभाव स्वीकार करना पड़ा। यद्यपि कथों में रबीन्द्रनाथ का सबसे अधिक प्रभाव कथाचित् गद्यकाव्य पर माना जा सकता है। रबीन्द्रनाथ की कविता के अग्रणी अनुवाद की प्रेरणा से भारत की प्रायः सभी भाषाओं में भावप्रधान गद्यवीतों का जन्म हुआ। भारतीय साहित्य की यह गई विधा जो संस्कृत कवियों के निरूप-रूप गद्यकाव्य से सर्वथा भिन्न थी रबीन्द्र साहित्य से तो नहीं—रबीन्द्र साहित्य के अग्रणी अनुवाद से प्रभावित होकर प्रकाश में आई।

भारतीय घासोचना पर रबीन्द्रनाथ का प्रभाव नगण्य-सा ही है। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि प्रापुनिक भारतीय घासोचना में रबीन्द्रनाथ ने फिर से आनंदवादी मूर्तियों की प्रतिष्ठा की। पर यह अनुमान फायद नहीं है। भारतीय भाषाओं में घासोचना एवं घासोचनाशास्त्र का सर्वाधिक विकास हिन्दी और मराठी में हुआ है और इन दोनों ही भाषाओं में घासोचना की शास्त्रीय परम्परा सर्वथा अस्तुथ्य रही है। इसलिए इनकी घासोचना को भारतीय रचना का कुछ आधार प्राप्त है। नसहत वाक्यशास्त्र में विभिन्न धाराओं ने

बर्तन में जिनकी धारणा नहीं थी जो प्रत्यक्ष और मूर्त जीवन-अगत के प्रति लिप्टावान् थे रबीन्द्र-काव्य के इस रूप की और धारणा हुए। विश्व-मानव या सांस्कृतिक मानव का यह रूप निश्चय ही बढ़ा मध्य था। इतर दिवसी वास्तव से धारणा भारतीय जन-मानस में और उतर मौलिक संघर्ष से जबर पश्चिम के प्रबुद्ध समाज में इसका मुक्त रूप से स्वागत किया। अति राष्ट्रीयता से अलग अलग मानव-संस्कृति की कल्पना जिसका निर्माण विश्व-कवि की सार्व-भौम प्रतिभा ने उपनिषद् की अतीत-कल्पना और उससे प्रभावित मध्ययुग के संत काव्य इष्ट की मधुर कल्पना में सांसारिक विभेद को निमज्जित करनेवासी वैष्णव भावना बुद्ध की विश्व-कल्याण और पश्चिम की मानवतावादी विचार धारा के सांसारिक तर्कों द्वारा किया था हमारे कवि-कलाकारों के लिए अत्यंत प्रेरणा-स्रोत बन गई। राष्ट्रीय चरतल पर भी कवि ने अनेक संस्कृति-वाराधों के संघर्ष में ऐसे ही भारत-वीर्य की कल्पना की। २ वीं सदी के पूर्वार्द्ध में संपूर्ण भारतीय बाहुमय में राष्ट्रीय-सांस्कृतिक काव्य की यह धारा अन्तःकर्मोर्षों के साथ प्रवाहित होती रही। तमिल के भारती मत्सयात्म के अन्ततम बुद्धयुगी के जमासंकर जोषी मण्डी के केशवगुप्त तथा मोदित्यापज हिम्ब्री के मैथिलीधरण गुप्त माहनमाम अतुर्वेदी शिवाचमधरण गुप्त पंत नवीन दिनकर धारि उर्व के अकवस्त पंजाबी के गुरुमुक्तसिंह मुसाफिर हीरासिंह 'बर्द' धारि ने अपने काव्यों में विभिन्न भंगिमाधों के साथ इस स्वर को मुखरित किया। इन कवियों ने वास्तव में रबीन्द्रनाथ से सीधा प्रभाव ग्रहण नहीं किया अपने-अपने क्षेत्र में वे सभी 'साहसिकनाम' थे। किन्तु भाव-कल्पना के क्षेत्र में रबीन्द्रनाथ ने और विचार तथा कर्म के क्षेत्र में पाँची ने जो राष्ट्रीय-सांस्कृतिक वातावरण तैयार किया था उसका नाम इन सभी कवियों ने ग्रहण किया। पाँची ने देश की धारणा को प्रबुद्ध कर उसमें जो उत्साह-स्फूर्ति एवं कर्म-वैतना उत्पन्न की थी रबीन्द्रनाथ ने बीमबपूर्ण भारतीय संस्कृति के रंगों से उसे अगमन कर दिया और इस प्रकार कर्म का तेज भावना तथा कल्पना के ऐश्वर्य से महित हो गया। युग-अर्थ से प्रेरित रबीन्द्रनाथ ने काव्य-रसायन की यह प्रक्रिया पूर्ण कर वाचरण-युग के भारतीय कवियों का मार्ग प्रदर्शन किया।

धार्मिक युग के तीसरे अरण्य में रबीन्द्रनाथ का भारतीय कविता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। जिस प्रकार स्वयं बंगला में उनकी कविता के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई वही प्रवृत्त भारतीय भाषाओं के काव्य में भी अपनी-अपनी परिधि के भीतर रोमानी प्रकृति के विरुद्ध विद्रोह हुआ जो धारण भी जन रहा है।

यद्यपि अन्त में रबीन्द्रनाथ का प्रभाव, धारम्भ से ही बहुत कम रहा। भारतीय उपन्यास-कला ने बहुत दौध ही युग-जीवन की बढ़ती हुई मान को स्वीकारकर बँवसा उपन्यास की रबीन्द्रनाथ की रबीन्द्रनाथ का स्वयं कर दिया और

याँबी-ग्राम से प्रभावित धारसोन्मुख यथार्थवाद की स्वस्थ भूमिका पर अपना स्वतंत्र विकास किया। हिन्दी में प्रमथर ने इस प्रवृत्ति का नेतृत्व किया, मुंबरायी में रमलनाथ बसन्तनाथ बेसाई ने और मराठी में हरिनाथराय घाटे ने। इन उपन्यासकारों का प्रभाव अपनी-अपनी भाषाओं से बाहर भी पड़ा। उदाहरण के लिए उर्दू और पंजाबी पर प्रेमचन्द का गहरा प्रभाव था। भागे बलकर इस विवेक-सम्पन्न उपयोगितावादी दृष्टिकोण के विरुद्ध जब हूबय की कोमल वृत्तियों ने विद्रोह किया तब भी उर्दू की धारम-मीडनमयी कला का भीया प्रभाव ही भारतीय उपन्यास ने अधिक ग्रहण किया। बाव में तो मार्क्स तथा फ्रयड की विचार-जाटाएं बगमा-उपन्यास की तरह भारत की विभिन्न भाषाओं के उपन्यास साहित्य पर भी व्यापक एवं गहरा प्रभाव डालने लयी। इस प्रकार भारतीय उपन्यास विचार के क्षेत्र में याँबी मार्क्स तथा फ्रयड का और कला के क्षेत्र में प्रमथन्द हासनाय धरदू तथा सारेस्य धारि का जितना ज़रूरी है उतना रबीन्द्रनाथ का नहीं। नाटक के क्षेत्र में भी यही बात है। भारतीय नाट्य साहित्य को संस्कृत की शास्त्रीय परम्परा से रोमांटिक ड्रामा के नाट्य-विषय की ओर उन्मुख करने में बंगला के विवेन्द्रनाथ राय का ही योगदान अधिक है। हाँ भारतीय लघु कथा रबीन्द्रनाथ की कही अधिक ज़रूरी है। धाधुनिक कहानी में कबिले अपने मानव तत्व और प्रतीकारमकता के लिए रबीन्द्रनाथ का प्रभाव उत्तरदायी हो सकता है, क्योंकि रबीन्द्र साहित्य में सबसे अधिक धनुवाद उनकी कहानों के ही हुए हैं। इस व्यापक प्रचार और प्रसार का परिणाम स्पष्ट था और स्वयं प्रेमचन्द जैसे कथाकार को जिनका दृष्टिकोण सर्वथा भिन्न था कहानी के क्षेत्र में रबीन्द्रनाथ का प्रभाव स्वीकार करना पड़ा। यद्यपि यों में रबीन्द्रनाथ का सबसे अधिक प्रभाव कदाचित् गद्यकाव्य पर माना जा सकता है। रबीन्द्रनाथ की कविता के अग्रणी मदानुवाद की प्रेरणा से भारत की प्रायः सभी भाषाओं में भावप्रधान कवियों का जन्म हुआ। भारतीय साहित्य की यह नई विधा जो संस्कृत कवियों के निकट-रूप मद्यकाव्य से सर्वथा भिन्न थी रबीन्द्र साहित्य से तो नहीं—रबीन्द्र साहित्य के अग्रणी धनुवाद से प्रभावित होकर प्रकाश में आई।

भारतीय छात्रोचना पर रबीन्द्रनाथ का प्रभाव गण्य-सा ही है। कुछ विद्वानों का धनुमान है कि धाधुनिक भारतीय छात्रोचना में रबीन्द्रनाथ ने फिर से धाने-जाने कृषियों की प्रतिष्ठा की। पर यह धनुमान धामर सही नहीं है। भारतीय भाषाओं में छात्रोचना एवं छात्रोचनाशास्त्र का सर्वाधिक विकास हिन्दी और मराठी में हुआ है और इन दोनों ही भाषाओं में छात्रोचना की/शास्त्रीय परम्परा सर्वथा धामर नहीं है।

सभ्य-धर्म के चमत्कार और मान की धार्मिक-मयी परिणति के विषय में सुबह गहन अनुसंधान कर प्रस्तुत रख को ही काव्य की धारणा माना है और उस की माना प्रकार से व्याख्या कर उसे आत्मास्वाद के रूप में ही स्वीकार किया है। हिन्दी और मराठी के प्राबुद्धिक धारणियों ने उस-सिद्धान्त का पुनरावृत्त कर पारंपार्य धारणियों के धारण्यवादी अथवा धर्मधर्मवादी मूर्तियों के साथ उसका सामन्य स्थापित किया है। धारण के प्रति घट्ट निष्ठा होने के कारण इन दोनों भाषाओं के धारणियों ने धारणियों में कल्पना और भावुकता को विशेष प्रोत्साहन नहीं दिया। सिद्धान्त रूप में रवीन्द्रनाथ की धारणियाँ भारतीय रसवाद और पारंपार्य रोमानी धारणियों से प्रभावित हैं। वह काव्य में रसों के ही काव्य हैं। किन्तु उन्होंने सुन्दर को धिब और सत्य से धमक कर के नहीं देखा और साहित्यिक क्षेत्र में उनकी धारण्य कल्पना लोक-मय की धारणियों से प्रोत्-प्रोत् है। नैतिक मूर्तियों में उनकी घट्ट धारणा है किन्तु वे नैतिक मूल्य धारणियों के रस में पगे हुए हैं। स्त्रुल उपयोक्तारवादी दृष्टिकोण का रवीन्द्रनाथ ने जीवन और काव्य दोनों क्षेत्रों में निषेध किया है। युगधर्म के प्रभाव के अनुकूल उन्होंने व्यापक सांस्कृतिक मूर्तियों के धारण पर भारतीय रस-कल्पना का विस्तार कर उसे पारंपार्य स्वच्छन्दतावादी रोमानी धारणियों की पद्धति में धामकर प्रस्तुत किया है। व्यावहारिक धारणियाँ उनकी प्रायः सजनात्मक हैं। धनुस्तता मेकभूत धारणियों के धारण्यवादी अथवा धर्म-धारण्यवादी धारणियों में धारण्य-कल्पना का ही प्रसार धारण्य है। कहने का धर्मिप्राय यह है कि रवीन्द्रनाथ की धारणियाँ धारण्यवादी और बहुधा धर्मनात्मक हैं। इसीलिए धारण्य रामचन्द्र शुक्ल ने उसका प्रतिवाद किया है और उसे कुछ धारणियों की कोटि में परिमणित नहीं किया। हिन्दी के धारण्यवादी कवियों—विशेषकर महादेवी का सिद्धान्त-प्रतिपादन रवीन्द्रनाथ से निमता-मुमता है—धारण्य उनसे प्रभावित भी हो सकता है। महाकाव्यीय धारण्य-प्रतिभा और भी धारण्य धारण्यनिष्ठ है। वहाँ के प्रतिनिधि धारण्यवादी ने भारतीय तथा यूरोपीय काव्य सिद्धान्तों का धारण्य मनोनिषेध के साथ विवेचन-विश्लेषण किया है किन्तु उनकी धारणियों के धारण्य धारण्य काव्यशास्त्र मनोविज्ञान रचन ही रहे हैं कल्पना और भावुकता को प्रथम नहीं दिया गया। इस प्रकार प्राबुद्धिक युग में भारतीय धारणियों अपने परिनिष्ठ रूप में रस-विशेष के विभिन्न मूर्तियों और रसों को ग्रहण करती हुई भी धारण्य के पक्ष से विचलित नहीं हुई—वह कालिधम और रवीन्द्रनाथ की धारण्य भरत मामह धारण्यधर्म धारण्यधर्म तथा मम्मट और उषर धारण्य, धारण्य कोषे या धारण्य धारण्य पर मार्कण्ड और धारण्य को ही धारण्य मानती रही है।

धर्म में मेरे निष्कर्ष इस प्रकार हैं—

१—अनेक भाषाओं के इस देश में किसी एक भाषा के कवि का जितना प्रभाव हो सकता था अनुभूत परिस्थितियों व कारण रबीन्द्रनाथ का प्रभाव भारतीय काव्य पर उससे अधिक ही मानना चाहिए। किन्तु इस प्रभाव के सूत्रों को समझ-भ्रमण कर देखना सरल नहीं है क्योंकि स्वयं रबीन्द्रनाथ के काव्य व्यक्तित्व का निर्माण स्वदेश-विदेश के ऐसे विभिन्न प्रभावों के संघात से हुआ था जो उनके समसामयिक एवं परवर्ती कवियों के लिए भी उसी रूप में सहज सुलभ थे। उपनिषद् के धर्मबोध वैष्णव-काव्य की मधुर भावना या ईर्ष्या के रोमानी कवियों के स्वच्छन्दतावाद या कामिदास काव्य के सांस्कृतिक बीज का उपयोग रबीन्द्रनाथ ने जिस प्रकार किया है उसी प्रकार अन्य कवियों ने भी। धारम्भ में कहीं-कहीं यह प्रभाव रबीन्द्रनाथ के माध्यम से आया है किन्तु बाद में बसकर इस माध्यम की आवश्यकता नहीं पड़ी।

२—प्राधुनिक भारतीय साहित्य में अनेक सामाजिक-सांस्कृतिक कारणों से पारदार्य रोमानी काव्य से प्रत्यक्ष प्रभाव ग्रहण कर जिस स्वच्छन्दतावादी काव्य प्रवृत्ति का जन्म हुआ रबीन्द्रनाथ उसके स्रष्टा न होकर धरणी थे। अपनी महान प्रतिभा के द्वारा वह इस रोमानी काव्य-प्रवृत्ति के प्रेरक प्रभावों को भारत के अन्य स्वच्छन्दतावादी कवियों से बहुत पहले ही धारणमात्र कर चुके थे। इन नवीन स्वच्छन्द अनुभूतियों और रूस्यवादी विज्ञानवादों को मूर्त-रूप प्रदान करने के लिए जिस माध्यम की धर्मिता थी रबीन्द्रनाथ की समृद्ध कारपित्री प्रतिभा उसका निर्माण कर चुकी थी जिससे परवर्ती कवियों का कार्य सुकर हो गया।

३—सामान्य रूप में बीमबी राताप्पी का प्रतिनिधि जीवन-दर्शन है मानवतावाद जिसके भारत में वा प्रमुख व्याख्याकार हुए एक-बांधी और दूसरे रबीन्द्र। बांधी ने मानव-सत्य का जहाँ अनुभव और व्यवहार के द्वारा साक्षात्कार किया वहाँ रबीन्द्रनाथ ने कल्पना के द्वारा। शान्ति के मानवतावाद की परिगति भीतिक धीमाओं को पारकर धारमावाद में होती है। किन्तु फिर भी दोनों व हृष्टि कोण भिन्न हैं। बांधी-दर्शन नियत है जब कि रबीन्द्र-दर्शन ध्यानन्द के छोड़ प्रोत है। युग-भ्रम के इन दोनों दृष्टाओं ने स्वभावतः ही समसामयिक साहित्य को प्रभावित किया है। बांधी की हृष्टि धारदावादी एवं धार्मिक भी धरा साहित्य के क्षेत्र में उनके प्रभाव व लोकमंगल की लये एवं प्रथम रूप में प्रतिष्ठा हुई और लोक-व्यापार को साहित्य का एकाग्र मध्य मानन बांध प्रथम तथा उनके समानपर्याय साहित्यकार धरणी कला में उसकी धर्मिष्ठा करन लये। उपर कल्पनाशील तथा मायुक कवि-संगनों की बांधी ने एकाग्र उपयोगितावादी निरानन्द काया-बोध में तृप्ति नहीं हुई उनके धारदर्शन में रबीन्द्रनाथ। इस प्रकार रबीन्द्रनाथ ने एक और स्वच्छन्दतावादी-रूस्यवादी काव्य प्रवृत्ति का प्रभावित किया और दूसरी और राष्ट्रीय-सांस्कृतिक धारा को भी।

४—गद्य के क्षेत्र में रवीन्द्रनाथ का प्रभाव बहुत कम रहा। उनकी अपेक्षा बंगला के ही धरतू ने भारतीय उपन्यास को और डिजेन्द्रलाल राय ने भारतीय नाटक को अधिक प्रभावित किया। जब तक इन दोनों कलाकारों की दुर्बलता का उद्घाटन हुआ तब तक भारतीय उपन्यासकार और नाटककार यूरोप की कला प्रवृत्तियों के प्रत्यक्ष सम्पर्क में था जुके थे और स्वयं बंगला के कलाकार भी रवीन्द्रनाथ प्रादि से विमुक्त होकर दूसरी विधा में प्रवृत्त हो गए थे।

५—सब मिलाकर रवीन्द्रनाथ ने भारत के साहित्यिक वातावरण के नव निर्माण में सक्रिय योगदान कर प्रत्यक्ष प्रभाव की अपेक्षा प्रेरणा ही अधिक प्रदान की। उनका प्रत्यक्ष प्रभाव भारतीय कवियों की प्रारम्भिक रचनाओं तक ही सीमित रहा। बाद में प्रत्येक भाषा के समर्थ कवि का स्वतंत्र विकास हुआ और अनेक ने ऐसी कलाकृतियाँ भी प्रस्तुत की जो रवीन्द्रनाथ की श्रेष्ठ उपलब्धियों के समकक्ष रली जा सकती हैं। रवीन्द्रनाथ की समवेत उपलब्धि इतनी प्रचुर और महान् है कि प्राधुनिक भारत का अन्य कोई कवि उनकी समता नहीं कर सकता। किन्तु इस युग की कई समृद्ध भाषाओं में ऐसी प्रतिभाएं हुई हैं जिनकी उपलब्धियों का इकाई रूप में कम महत्त्व नहीं है। प्राज्ञ के व्यापक आलोचक का यह कर्तव्य है कि राजनीतिक प्रचार से अनातकित रहकर समुचित एवं अनासक्त बुद्धि से अल्प प्रतिभाओं का सम्मूह्यन न करता हुआ प्राधुनिक भारतीय साहित्य के विकास में रवीन्द्रनाथ के योगदान का मूल्यांकन करे। विश्वकवि के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करने की यही सर्व श्रेष्ठ पद्धति है—अभाव में भाव का अनुसंधान कर, अनुमान के आधार पर इधर-उधर से उक्तियाँ और विचार एकत्र कर बरबस यह सिद्ध करना कि हमारे वर्तमान साहित्य में जो कुछ सुन्दर और उदात्त है वह सब रवीन्द्रनाथ का दान है और साहित्यिक अंपराज होगा।

स्वतंत्रता के पश्चात् हिन्दी साहित्य

हिन्दी का यह सौभाग्य था और दुर्भाग्य भी कि देश की सविधान सभा ने उस राज-भाषा को चयन किया। सौभाग्य इसलिए कि स्वतंत्र भारत जैसे महान् देश की राष्ट्रीय एकता की सूत्रधारिणी बनने का पौरव उसे मिला। दुर्भाग्य इसलिए कि वह राजनीति के बाधक के रूप में लगे गई। हिन्दी का सभ राजनीतिक गैरगणों से इतनी बुरी तरह घिर गया कि साहित्यकार के लिए उपर बँटने की जगह भी नहीं रही। परिणाम यह हुआ कि हिन्दी साहित्यकार की चेतना को निम्न भाव विरोधी मण्डलों में बिलकूल हो गई। सभम पहल तो उसे भाषा की समस्या से उत्सन्नता पड़ा। फिर साहित्य की समृद्धि का प्रश्न सामने आया। व्यापक स्तर में साहित्य के दो संघ हैं एक शास्त्र और दूसरा काव्य। शास्त्र से प्रसिद्ध है ज्ञान-व्यवहार का साहित्य और काव्य रस का साहित्य का बाधक है। इस तरह स्वतंत्रता के बाद हिन्दी साहित्यकार के सामने तीन मौलिक समस्याएँ उठ खड़ी हुईं जो बाधक रूप में सम्बन्ध होती हुईं भी तत्काल रूप में घिनी थी (१) भाषा की (२) व्यावहारिक साहित्य की और (३) काव्य व्यवहार के साहित्य की।

सन् १९४७ से लेकर सन् १९६१ तक इन चौरस बरसों में हिन्दी साहित्य के विकास की ये तीन रेखाएँ हैं जिन्हें आधार मानकर अपनी उपलब्धियों का जिलाबोधन किया जा सकता है।

भारत की राजभाषा होने ही हिन्दी-भाषा के अन्त में घनाजाम ही संख्या नहीं का कारण कर लिया। एक तो इसका युद्ध राजनीतिक पहलू है जिसके अनेक महारसों का रूप रस और धार भी ऊँच रहे हैं। हमारे मन में उनके प्रति बड़ी सम्बन्धित धार है जो सामान्य बुद्धिजीवी व्यक्ति को धार के प्रति ही प्रेरणा है। वे हमारे समस्त हैं। विन्तु भाषा का एक साहित्यिक रूप भी है और वह हमारा धरणा साधक है। दो तो समग्रतः निर्दली से लेकर हमारी धरणी पीढ़ी के हिन्दी गैरगणों तक हिन्दी भाषा की मण्डलों का समुचित विकास

हो चुका था—महावीरप्रसाद द्विवेदी ने उसको स्थिर रूप दिया पण्डितहृदयों में उसे गोष्ठी-मंडन बनाया प्रेमचन्द ने उसकी व्यावहारिक शक्ति का विकास किया रामचन्द्र शुक्ल ने यम्भीर विवेचन के माध्यम रूप में उसका परिपाक किया परंतु ने उसको सूक्ष्म सौन्दर्य-विवृत्तियों के उच्चाटन की क्षमता दी और सन् १९४० में प्रायुक्तिक हिन्दी एक प्रौढ़-परिपक्व भाषा के रूप में विद्यमान थी। परन्तु राजभाषा बनते ही उसके सामने घनायास ही अनेक समस्याएँ उठ खड़ी हुईं और काव्य-साहित्य के शायित्व को विस्वास के साथ निबाहने वाली भाषा तबोत शायित्वों के मार से जैसे कुछ समय के लिए बाँध गई। किन्तु आचार्य पुष्ट था—और डा० रघुवीर जैसे मेधावी आचार्यों ने उसका पूर्ण उपयोग कर हिन्दी की अन्तर्भूत शक्ति का सम्यक विकास आरम्भ कर दिया। डा० रघुवीर के धागे-पीछे और जी शम्भूकार इस विद्या में बड़े—जैसे महापंडित राहुल साहस्रवाहन और हिन्दी के बयोबुद्ध कोशकार बाबू रामचन्द्र वर्मा आदि। आरम्भ में आचार्य रघुवीर का बड़ा विरोध हुआ। पहली बार जब मैंने संविधान-अनुवाद-समिति में उनके साथ कार्य आरम्भ किया तो मुझको भी उनके शब्द और शब्दों से भी अधिक उनकी अक्षरहिण्यु पद्धति सर्वथा अपाह्न प्रतीत हुई। किन्तु जैसे-जैसे हम शब्दों की आत्मा में प्रवेश करते गए, जैसे-जैसे मुझे यह विदबास होने लगा कि अपने समस्त गुरु-श्रेणियों के रहते हुए भी उनका मार्ग ही ठीक है। वास्तव में आचार्य रघुवीर के शेष पहले सामने आते हैं और कुछ बाद में। उनका प्रमुख शेष यह है कि हिन्दी भाषा और साहित्य की आन्तरिक प्रकृति से उनका सहज सम्बन्ध नहीं है और दूसरे के शम्भूकार हैं, शैलीकार नहीं। किन्तु फिर भी अपने शेष में वे अद्वितीय हैं। उनके साधन और उपकरण अत्यन्त समृद्ध हैं। अस्तुत भाषा की निर्मातृ-क्षमता को उन्होंने पूरी तरह से आत्मसात् कर लिया है और पिछले दश-वन्त्रह वर्षों में उनको अक्षर निर्माण कला का अद्भुत अम्मास हो गया है। उनकी एक प्रत्यक्ष उपलब्धि तो यही है कि उन्हीं अक्षरों ने सधावधि शब्दों का निर्माण कर दिया है। किन्तु इससे भी बड़ी उपलब्धि उनकी यह है कि उन्होंने अक्षर-निर्माण के मूल सिद्धान्त का आविष्कार या कम से कम अत्यन्त सफल प्रयोग किया है। उनका प्रायः सभी विद्याओं से विरोध हुआ किन्तु अन्त में जब उन्हींकी पद्धति का प्रबलम्बन किया जा रहा है। जो नहीं कर रहे हैं वे 'विचकिन्त्री' और 'सोनी' जैसे शब्दों का निर्माण कर इन सम्म वेद की राष्ट्रभाषा का अवनत कर रहे हैं।

डा० रघुवीर के बाद सिद्धा मंत्रालय ने यह कार्य अपने हाथ में लिया। मंत्रालय के उत्साहपान में अनेक भाषाविदों और विभिन्न शास्त्रीय विषयों के आचार्यों की सहायता ने विपुल संख्या में पारिभाषिक शब्दों का निर्माण हो

धीरे इस प्रकार का समस्त ज्ञान-साहित्य उसीमें प्रस्तुत होता रहा। किन्तु स्वतन्त्र राष्ट्र के सामने जब शासन तथा शिक्षा दोनों ही क्षेत्रों में हिन्दी के व्यवहार का प्रश्न आया तो आवश्यक साहित्य की मांग होने लगी। पिछले चौदह वर्षों में स्थिति में निरन्तर ही सुधार हुआ है। भौतिक तथा सामाजिक विज्ञानों के क्षेत्र में अनेक ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ है। और कुछ वर्ष पूर्व शिक्षा मंत्रालय द्वारा आयोजित एक सर्वमापा वैज्ञानिक-ग्रन्थ-अवधिनी से यह सिद्ध हो चुका है कि इन विषयों पर पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है। इस संदर्भ में सबसे बड़ी उपसम्पत्ति है मागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हिन्दी विद्वकोश, भाग १। इसके अतिरिक्त उत्तर प्रदेश की हिन्दी-समिति तथा बिहार की राष्ट्र-मापा-परिषद् के भी अनेक प्रकाशन अपने ढंग से उपयोग्य हैं। फिर भी अभाव तो मिटा नहीं है। वास्तव में हिन्दी का यह अभाव इतना बड़ा है कि इसके लिए नियमित रूप से बड़े पैमाने पर—प्रायः मुद्र-स्तर पर—प्रयत्न अनिवार्य है। यह बड़े ही खर्च का विषय है कि अभी तक प्राप्तोजना ही अधिक हो रही है और निर्माण-कार्य की गति अत्यन्त मंथर है। जैसे तो केन्द्र तथा अन्य राज्य सरकारों ने इस विषय में योजनाएं बनाई हैं और बड़ा-बहुत कार्य भी हो रहा है परन्तु धानस्पकृता को देखते हुए पूर्ण नगण्य-सी ही है। इस अग्रगति के अनेक कारण हैं। एक तो कारण यही है कि अभी अधिकांश क्षेत्रों में अक्षरी का ही प्रयोग चल रहा है और हिन्दी-लेखकों के लिए कोई प्रेरणा नहीं है। दूसरे, इन विषयों में हिन्दी के समर्थ लेखक भी अनेक नहीं हैं। तीसरे, शासन और शिक्षा दोनों ही में देश के कुमौल्य से प्रमुख स्थान ऐसे व्यक्तियों के अधिकार में है जिनका हिन्दी-ज्ञान पर्याप्त नहीं है। इनमें से सभी हिन्दी के विरोधी नहीं हैं। अनेक के मन में हिन्दी के प्रति वास्तविक ममत्त्व है किन्तु प्रश्न तो वर्तमान परिस्थिति का है। जैसे ऐसे व्यक्तियों का भी अभाव नहीं है जिनके मन में स्वार्थबश और कदाचित् सिद्धान्तबश भी हिन्दी में प्रति बिहोष की भावना है। इन व्यक्तियों ने कुतर्कणा का एक ऋणग्रह-सा रच दिया है और उसकी प्राप्ति में अपनी हित-रक्षा करना चाहते हैं—हिन्दी के असीमित धर्मों का अभाव है इसलिए वह उच्च शिक्षा एवं शासन का माध्यम नहीं बन सकती और जब तक हिन्दी का उपयोग इन क्षेत्रों में नहीं होया तब तक असीमित धर्मों का अभाव बना रहेगा। यह स्थिति वास्तव में चिन्त्य है परन्तु हमें निराश होने की आवश्यकता नहीं है। राष्ट्र का हित व्यक्ति के हित से अधिक बलिष्ठ है और काल के दुर्घट प्रवाह को विपरीत दिशा में मोड़ा नहीं जा सकता। इस दिशा में तुरन्त ही कार्यवाही होनी चाहिए और यह कार्य बेगार में पकड़े हुए कुछ विद्वानों की सहायता से प्रकीर्ण प्रयत्नों द्वारा नहीं हो सकता। इसके लिए तो एक बृहद् राष्ट्रीय ज्ञान-परिषद् की स्थापना अनिवार्य है।

अब यह पाठा है सर्वनामक साहित्य—अपना उस का साहित्य । साहित्य का यह अंश प्रकृति से जोड़ा अवश्य होता है—बहु न राजनीति का आदेश मानता है और न योजनाओं में ही परिवर्द्ध हो सकता है । पर रसवेता कलाकार भी अपनी परिस्थिति से सर्वथा निरपेक्ष तो नहीं हो सकता—और फिर स्वतन्त्रता तथा विभाजन की परिस्थितियाँ तो असाधारण थीं । सन् १९४७ के उपरान्त देश में अनेक बटनाएँ ऐसी बटीं जिनका किसी भी संबोधनधीन व्यक्ति की अन्तरचेतना पर गहरा प्रभाव पड़ना अनिवार्य था । सबसे पहले स्वतन्त्रता प्राप्ति की बटना ही एक अम्य बटना थी—देश के इतिहास में ऐसी बटना अज्ञानियों बाद पटी थी । भारत के कवि-कलाकार की युग-युग से अपमानित अंतःकरणों में मुक्ति की आँसू ली । उसके मन में एक अमृतपूर्व आत्म-विश्वास जगा । विद्व-कल्याण के जिन स्वप्नों को बहु गांधी और गांधी के पूर्वज अधियों के अज्ञ-अज्ञ से दासता की अभिसप्त राशि में भी संजोता रहा था उनको पहली बार सार्थक करने का अवसर आया । भारत के संस्कृत हृदय में बिना अहंकार के बिना किसी अज्ञ अज्ञात के अज्ञान को अज्ञान विद्व की मुक्ति का प्रतीक माना । भारत के राजनीतिज्ञों ने और कवियों ने एक स्वर से यह उद्घोष किया

भारत स्वतन्त्र है, स्वतन्त्र सभी जय हो !

जैसे-जैसे समय बीतता गया भारतवर्ष की विद्व-नीति की नीति अधिका स्पष्ट और आस्वर होती गई । इसका हमारे काव्य से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है । वास्तव में इस नीति की मूल चेतना ही काव्यात्मक है और इसका विकास नूतनीतिज्ञों की अज्ञानों के आचार पर नहीं हुआ रही और उनके अज्ञ एवं अनुज कवियों की अज्ञ अज्ञ के प्रभाव से ही हुआ है । उपनिषद् से लेकर अज्ञात बाद तक की भारतीय काव्य-परम्परा का पवित्र सम्बन्ध उसे प्राप्त है । हिन्दी में इस विषय पर अनेक कवियों ने अनेक रचनाएँ कीं और उनमें से अधिकांश का काव्यगुण अज्ञ नहीं है । फिर भी इनमें सबसे प्रबल स्वर पन्त विद्याराम धरण मनीन और दिनकर का ही रहा । पन्त और विद्यारामधरण में जहाँ देश की मुक्त आत्मा का पवित्र उन्मास है वहाँ मनीन और दिनकर में उसका सात्विक भोज है ।

विन्मु स्वतन्त्रता का यह अज्ञान विभाजन के अधिष्ठाप के साथ-साथ आया । मुक्त आचार में अज्ञानोदय हुआ ही था कि यह-अज्ञान के बादल फिर आए । परन्तु राष्ट्र के उपचयन में अज्ञान विद्वतियों अज्ञानों ही उमर आर और अज्ञान देश का आचारधरण आचार अधिष्ठापों का अज्ञान में गुंज उठा । यह अज्ञान अज्ञान की अज्ञान विद्वतों के दिन य विन्मु साहित्य में अज्ञान अज्ञान अज्ञानों अज्ञानों ही रहा । भारतीय साहित्य के अज्ञानों का हृदय यह अज्ञान

यथा ही एक मञ्जुर गर्भ से उत्पन्न हो उठेया कि हिन्दी के एक भी उत्तरवादी साहित्यकार ने साम्प्रदायिक विरोध को प्रथम नहीं किया। इस बटना से प्रेरित जो साहित्य भाव उपमन्त्र है, उसमें उत्कामीन विभिन्न पक्षता में मानव की कुछ-कुछ आत्मा का ही अनुसंधान प्रतिबन्ध रूप से मिमता है। इस प्रकार का साहित्य परिमाण में अधिक नहीं रचा गया। भारत-विमानन और उसकी अनुवर्ती विधीयिकाओं की प्रतिम्बनि बोझी-सी कहानियों कुक्षेक एकाकिमों और मुस्किम से दो-चार उपन्यासों में ही मिसली है। हिन्दी के अधिकारा समर्भ कसाकारों ने तो अपनी इस लज्जा को छिपाने का ही प्रयत्न किया है।

इस नर-मेघ की पूर्णरूढि हुई राष्ट्रपिता गांधी के बलिदान से। गांधी का यह बलिदान देश के सांस्कृतिक इतिहास में एक बिराट बटना थी। रबीन्द्रनाथ ने महाकाव्य के विषय में लिखा है— 'इसी प्रकार मन में जब एक महत् व्यक्ति का उदय होता है, सहसा जब एक महापुरुष कवि के कल्पना-राज्य पर अधिकार पा जाता है, मनुष्य चरित्र का उदार महत्त्व मनबन्धुओं के सामने अविच्छिन्न होता है, तब उसके जन्मत भावों से उद्गीप्त होकर, उस परमपुरुष की प्रतिमा प्रतिष्ठित करने के लिए, कवि माया का मन्विर निर्माण करते हैं। उस मन्विर की भित्ति पृथ्वी के गम्भीर अन्तर्द्वेष में रहती है और उसका धिसार मेघों को भेदकर आकाश में उठता है। उस मन्विर में जो प्रतिमा प्रतिष्ठित होती है, माना विदेहों से आ-आकर मोम उसे प्रणाम करते हैं। इसीको कहते हैं महाकाव्य।

इस दृष्टि से हमारा विश्वास है कि आधुनिक विश्व के इतिहास में गांधी से अधिक न तो कोई महाकाव्योचित चरित्र-नायक ही जन्मा है और न उनके बलिदान से अधिक महाकाव्योचित बटना ही बटी है।

गांधीजी के जीवन-मरण को लेकर हिन्दी में अनेक कविताएँ लिखी गईं। प्रमुद्य कवियों में वंश सिमारामचरण बुध नवीन बिनकर, बच्चन नरेन्द्र और लुमन आदि ने व्यक्तित्व रूप से रचनाएँ की हैं। उनके बलिदान से प्रेरित होकर भी प्रायः इन्हीं कवियों ने अनेक रचनाएँ प्रस्तुत कीं। परन्तु इनमें से अधिकारा कविताएँ विषय की गरिमा के उपबुक्त नहीं बन सकीं। इसका कारण स्पष्ट है—भारतीय काव्यशास्त्र में प्रकृत भाव और काव्यगत भाव में भेद किया गया है और हमारे आचार्यों ने बड़े मार्मिक ढंग से यह स्पष्ट किया है कि जीवनगत अनुभूतियाँ अपने प्रकृत रूप में नहीं बल्कि संस्कार रूप में ही काव्य का विषय बन सकती हैं। प्रकृत रूप में उनका ऐन्द्रिय तरह रसात्मक निबन्धन में बाधक होता है। गांधी के महानिर्वाण से सम्बद्ध काव्य में इसीलिए अपेक्षित उदात्त रस का लंघन नहीं हो सका क्योंकि उसका भाव अभी तक हटा है और भाव के कवि के लिए, बिचने कि उसको प्रत्यक्ष रूप से सहा है अभी वह संस्कार

महीं बन पाया—सम्भव है बपों तक बन भी न पाए। इसलिए गांधी महा काव्य कथाचित् कृत्रिम समय बाह ही लिखा जा सकता जबकि गांधीजी के जीवन मरण से सम्बद्ध हमारी युगानुभूति प्रकृत धनुभूति न रहकर सस्कार बन जाएगी।

प्रस्तुत कालावधि में काव्य के दो और प्रमुख विषय हमारे सामने आए (१) भारतवर्ष की सफल अन्तर्राष्ट्रीय शांति-नीति (२) अन्त बिनोबा का भूदान-आन्दोलन। तत्काल रूप में इस देश के कवि के लिए ये कोई नये विषय नहीं हैं। नेहरू जी शांति-नीति गांधी की अहिंसा की राजनीतिक अभिव्यंजना है और बिनोबा का भूदान यज्ञ उसकी आर्थिक अभिव्यक्ति। काव्यशास्त्र के सध्यों में तीनों का स्वाधीन भाव एक ही है। मनीनजी तथा श्री सिंघारामचरण आदि ने इस विषय को निष्ठा से साय ग्रहण किया है।

ऊपर जिन काव्य-विषयों का उल्लेख किया गया है वे मूलतः एक ही प्रकृति के वर्ग हैं—और यह प्रकृति बड़ी है जिसे हमने अपनी 'आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ' पुस्तक में राष्ट्रीय-सांस्कृतिक प्रकृति के नाम से अभिहित किया है। यह काव्य प्रकृति बस्तुतः नहीं नहीं है बल्कि स्वतंत्रता के बहुत पहले से ही हमारे साहित्य में इसका अस्तित्व रहा है। स्वतंत्रता के उपरांत इसके रूप में परिवर्तन अवश्य हुआ है किन्तु मूल तत्त्व वे ही रहे हैं। एक तो परतंत्र देश की यह अव्यक्त हुंकार आज इसमें नहीं रही उसका स्थान स्वतंत्र राष्ट्र के आत्म-विश्वास ने ले लिया है। दूसरे, अपने राजनीतिक सपने का सफल भंग हो जाने से अहिंसा में उसकी आस्था अत्यन्त हड़ हो गई है। तीसरे, अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपनी शांति-नीति के निरन्तर सफल होते जाने से विश्व-अन्याय के आभासों बस्तु-सत्य में परिणत होने लगे हैं। इस प्रकार संवेद, अगह्योप प्रतिरोध आदि का निराकरण हो जाने से जीवन के आस्तिक मूल्यों का पोषण हुआ है जिसके परिणामस्वरूप स्वतंत्रता के बाद की राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता के सामाजिक गुण प्रायः निःशेष हो गए हैं और कुछ आत्मिक उत्साह अस्मात् की परिकृष्टि हुई है। दूसरे वर्गों में यह कहा जा सकता है कि आज उसके राष्ट्रीय तत्त्व वृषक न रहकर बहुत कुछ सांस्कृतिक तत्त्वों में साथ ही पुनः-मिल गए हैं। वर्तमान हिन्दी कविता की सर्वप्रमुख धारा यही है। वास्तव में स्वतंत्रता-पूर्व युग की तीन प्रवृत्तियाँ—और और उत्साह से अनुप्रेरित राष्ट्रीय प्रकृति सत्य चिन्तन से अनुप्राणित सांस्कृतिक प्रकृति और सौंदर्य-भावना से स्तुत व्यथावारी प्रकृति इस त्रिकली में मिलकर एकाकार हो गई हैं। प्रश्न विदा या सवता है कि इसकी उपलब्धि क्या है? इसका उत्तर यह है कि अभी वर्तमान काव्य की अंगरक्षिता या निर्माण हो रहा है। आज नहीं तो कल कोई समय बरि अपनी अमृतवाणी में इसका उद्घोष करेगा।

इस परिधि के बाहर भी एक ऐसा कवि वर्ग है जो धमीष्ट संस्कारों के अभाव में परंपरा से पोषित धार्मिक मूर्तों को ग्रहण करने में असमर्थ है। निबन्धन वह जीवन के उपर्युक्त सांस्कृतिक मूर्तों के विरुद्ध 'अनति' अथवा 'अभोय' कर रहा है। सक्रियता की दृष्टि से यह वर्ग पिछड़ा नहीं है और अपने ढंग से यह भी जीवन की व्याख्या करने का दावा करता है। १९४७ से पूर्व जो प्रगतिवादी थे उनमें से संस्कारहीन कवियों ने सांस्कृतिक मूर्तों को स्वीकार कर लिया है किन्तु जिनकी प्रकृति उनके साथ समझौता नहीं कर पाई, वे या तो कमी-कमी दैर्घ्य के धार्मिक विभाग के विरुद्ध बड़बड़ाने लगते हैं और या फिर व्यक्ति की कुष्ठार्यों को नास्य में मूर्त करने का सफ़स-असफ़स प्रयत्न करते हैं। मेरे धार्मिक संस्कार इस प्रकार की कविता से कमी सम्बन्ध नहीं कर सके—किन्तु फिर भी वस्तु-चिन्तन करने पर मुझे यह लगता है कि यह प्रकृति केवल बौद्धिक विद्वान्-भाव नहीं है अथवा यदि केवल बौद्धिक विद्वान् ही भी तब भी धार्मिक जीवन में अस्वाभाविक नहीं है। धार्मिक का बुद्धिजीवी मुक्त धार्मिक नहीं है। वर्तमान उच्चकी व्यक्तिगत आकांक्षाओं का परितोष नहीं कर रहा वह अनुभव करता है कि उसकी प्रतिभा का मूल्य उसे नहीं मिला रहा—और वह दुःख है। सामाजिक चेतना उसकी इतनी विकसित नहीं हो पाई कि राष्ट्र के सामूहिक विकास अथवा कम से कम विकास प्रयत्नों से प्रेरणा ग्रहण कर सके संस्कार उसके इतने धार्मिक नहीं रह गये कि धार्मिकी की स्वयं कल्पना उसे परितोष दे सके। अन्त में यह जाता है वह स्वयं और धार्मिक प्रतिभावों द्वारा पोषित उसकी बुद्धि। अतएव कुच्छिन्न मन नास्तिक बुद्धि के साथ तरह-तरह के खेल खेलने लगता है। धार्मिकी प्रयोगवादी कविता की यही अन्तर्म व्याख्या है। यह काव्य-प्रकृति धार्मिकी के जीवन में अस्वाभाविक नहीं है, किन्तु फिर भी सत्य भी नहीं है क्योंकि यह नास्तिक पर धार्मिक है धार्मिक पर नहीं।

साहित्य के अन्य क्षेत्रों की उपलब्धियाँ भी महत्वहीन नहीं हैं। हिन्दी-उपन्यास काफ़ी सक्रिय रहा है यद्यपि धार्मिकी-उपन्यास की प्रविकाश प्रकृतियों में प्रायः स्वतंत्रता-पूर्व युग की विस्तृति ही मिलती है फिर भी कलात्मक स्तर का उचित संरक्षण हुआ है। प्रेमचन्द की सामाजिक-राजनीतिक-उपन्यास-परम्परा में अमृतसात मापर के 'दूर और समुद्र' तथा 'शुभाग के गुपुर्' का स्थान अशुभ्य रहेगा। इस वर्ष के अन्य असातिष्य उपन्यासकारों में अदबतीकरण वर्मा और उपेन्द्रनाथ अरक ने गुण तथा परिमाण दोनों की दृष्टि से महत्वपूर्ण कार्य किया है। मनोवैज्ञानिक उपन्यास के क्षेत्र में अज्ञेय का 'नदी के द्वीप' इसाचन्द्र जोशी का 'पहाड़ का पंथी' और जैनेन्द्र की 'शुक्ल' तथा 'अवधर्षन' आदि रचनाएँ विशेषतः उल्लेखनीय हैं यद्यपि यह कहना कठिन होगा कि इनमें से कोई भी दृष्टि अपने रचयिता की पूर्व-उपलब्धियों से

घेष्टर है। इस दृष्टि से वृन्दावनवास बर्मा और यज्ञपाल की सफलता अधिक स्पृहणीय है। बर्माजी की 'भ्रंसी की रानी' और 'मृगनयनी' दोनों ही घेष्ट ऐतिहासिक उपन्यास हैं—हिन्दी में अपने वर्ग की वे प्रथम किंवदंतियाँ हैं। और उपर यज्ञपाल-द्वारा 'झूठा सच' भी अपने महाकाव्योचित आयाम तथा गरिमा के कारण प्रगतिवादी उपन्यासों में निरक्षर ही सर्वप्रथम है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद उपन्यास के एक नवीन रूप का भी आविर्भाव हुआ है और वह है 'घाबमिक उपन्यास'।—इन संदर्भ में रेणु ने 'सैसा घाबम और 'परवी परिक्रमा' की रचना द्वारा एक नवीन दिशा में सफल प्रयोग किये हैं, यद्यपि अभी इन्हें प्रयोग से भागे सिद्धि मानना जल्दबाजी होगी।

हिन्दी नाटक अब रंगमंच के अधिक निकट आ गया है और कुछ ऐसी गई प्रतिभाएँ उभरकर सामने आ रही हैं जिनका अपने प्रथमर्ती नाटककारों—कदमीनारामण मिश्र उत्पन्नकर भट्ट सेठ गोविन्दराव आदि की प्रोत्साहन रंगमंच की बिक्रमसीमा बना स प्रथम चनिष्ठ एवं जीवंत सम्पर्क है। इस युग में सर्वाधिक विकास हुआ है धामोचना का। इनमें सदेह नहीं कि धार्याय शुक्ल की वही मेधा का बरदान आज उसे प्राप्त नहीं है किन्तु उनकी स्वस्थ परम्पराओं का पिछले ११-१४ वर्षों में समुचित विकास हुआ है और अब भी हो रहा है। इनके अतिरिक्त समाजबिज्ञान मनोविज्ञान-शास्त्र तथा सौन्दर्य-शास्त्र की नवीन पद्धतियों के सम्यक उपयोग से नवीन धामोचना प्रणालियों का भी आविर्भाव हुआ है। इधर भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य सिद्धांतों का धार्याय-युनरुपान भी द्रुत गति से चल रहा है स्वदेश विद्य के प्रायः सभी धार्यायों के शास्त्र-रूप हिन्दी में सुलभ है और हिन्दी का काव्य शास्त्र आज भारतीय भाषाओं में सर्वाधिक समृद्ध है। नवीन धार्य के परिणामस्वरूप प्रभूत ऐतिहासिक सामग्री प्रकार में आई है और हिन्दी के निष्ठ सेवक नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा आयोजित हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास में उसका उचित उपयोग कर रहे हैं। यह इतिहास स्वयं अपने धार्य में एक महान् अनुष्ठान है—दसके तीन भाग प्रकाशित हो चुके हैं और चौथे पर कार्य हो रहा है। पूरा हो जाने पर लगभग दस हजार पृष्ठों का यह महाप्रबन्ध का वशावत् सबसे बड़ा साहित्यिक इतिहास होगा जिन धर्मस्य 'पुस्तक-नोट एकर होकर भी काटने में असमय रहेंगे। भाषाविज्ञान की प्रगति भी जोरदार नहीं है। विभिन्न भारतीय भाषाओं के निकट सम्पर्क के फलस्वरूप गुनकारमक भाषाविज्ञान के अध्ययन के लिए व्यापक शोध मिस गया है और भाषा-वैज्ञानिक सर्वेक्षणों के द्वारा धार्य की धनक बातियों के अध्ययन की विस्तृत योजनाओं पर कार्य हो रहा है।

धन्य मे हमारा निष्पन्न यह है कि स्वाधीन भारत में हिन्दी की प्रगति के

दोनों ही पहलू हैं। ज्ञान के साहित्य में जहाँ प्रभूतपूर्व उल्लासि हुई है वहाँ रस के साहित्य की सिद्धि अधिक से अधिक संतोष-मद ही कही जा सकती है—उसपर मर्ब करने का कोई विशेष कारण नहीं है। परन्तु यह तो उपमन्त्रि का समय वास्तव में है भी नहीं—यह तो निर्माण-काल है बरन् यह कहना चाहिए कि निर्माण का भी आरम्भकाल है। निर्माण और सृजन दोनों में बाह्य समानता होने पर भी मौलिक भेद है। निर्माण जहाँ योजनाबद्ध विवेकपूर्ण तथा प्रयत्न-साध्य कर्म है वहाँ सृजन अतस्फूर्त प्रयत्न-साध्य क्रिया है जो न योजना में बाँधी जा सकती है और न हानि-नाम के विवेक से नियन्त्रित हो सकती है। हिन्दी का साहित्यकार आज निर्माण की योजनाओं में संसक्त है बिनके परिणाम अपेक्षित अवधि के उपरांत ही उपमन्त्रि होंगे। अतएव आज की उपमन्त्रि का मूर्खान्त परिणाम के आशय पर नहीं हमारे प्रयत्नों के आशय पर होना चाहिए ।

छायावाद की परिभाषा

शास्त्र से लगभग ४० वर्ष पूर्व युग की उद्बुद्ध चेतना ने बाह्य अभिव्यक्ति से निराश होकर जो आत्मबद्ध अतर्मुखी साधना आरम्भ की वह काव्य में छायावाद के रूप में अभिव्यक्त हुई। जिन परिस्थितियों ने हमारी कर्म-वृत्ति को ग्रहणा की घोर प्रेरित किया उन्होंने साध-वृत्ति को छायावाद की घोर। उसके मूल में स्तुम से विमुक्त होकर सूक्ष्म के प्रति आग्रह था।

पिछले महासमर के उपरांत यूरोप के जीवन में एक निस्सार लोत्रसाधन था मया था। जीवन के प्रति विश्वास ही तप्य हो गया था। परन्तु भारत में धार्मिक परामय के होते हुए भी जीवन में एक श्रवण था। भारत की उद्बुद्ध चेतना युद्ध के बाद अनेक आघात लगाए बैठी थी। उसमें स्वप्नों की चंचलता थी। वास्तव में भारत की आत्म-चेतना का यह विचोर-काल था जब अनेक इच्छा-अभिमायाएं उठने के लिए पंख फड़फड़ा रही थीं। भविष्य की रूप-रेखा नहीं बन पाई थी परन्तु उसके प्रति मन में इच्छा जग गई थी। पश्चिम के स्वच्छंद विचारों के संपर्क ने राजनीतिक और सामाजिक बंधनों के प्रति असंतोष की भावना मजबूत उभार के साथ उठ रही थी अने ही उनको छोड़ने का निश्चित विधान अभी मन में नहीं था रहा था। राजनीति में ब्रिटिश साम्राज्य को प्रथम सत्ता और समाज में सुधारवाद की हड़ भतिकता असंतोष और विद्रोह की इन भावनाओं को बहिर्मुखी अभिव्यक्ति का अवसर नहीं देती थी। निराश के अतर्मुखी होकर धीरे-धीरे अन्तर्चेतन में जाकर बठ रही थी और वहाँ से सति वृत्ति के लिए छाया-चित्रों की सृष्टि कर रही थी। आशा के इन स्वप्नों और निराशा के इन छाया-चित्रों की काव्यगत समष्टि ही छायावाद कहलाई।

छायावाद में आरंभ से ही जीवन की सामान्य और निश्चिन्त वास्तविकता के प्रति एक उल्लास एक विमुक्तता का भाव मिलता है। नवीन चेतना से उद्गीर्ण बन्ध के रूपन धरती अभिव्यक्ति के लिए चंचल हो रहे थे परन्तु वास्तविक जीवन में उसके लिए कोई गुनाहना नहीं थी। अतएव स्वाभावत ही उसकी वृत्ति

निकट यथार्थ और स्पष्ट से विमुक्त होकर सुदूर, रहस्यमय और सूक्ष्म के प्रति आकृष्ट हो रही थी। भावनाएं कठोर वर्तमान से कृत्रिम होकर स्वर्ण-मयीत या आदर्श भविष्य में वृत्ति खोजती थीं—ठोस वास्तव से ठोकर खाकर कल्पना और स्वप्न का संसार रचती थीं—कोनाहम के जीवन से नायक प्रकृति के विविध प्रंचल में घरण भेटी थीं—स्वप्न से सहमकर सूक्ष्म की उपासना करती थीं। धात्र के आलोचक इसे यमायत कहकर तिरस्कृत करते हैं परन्तु वह वास्तव को बायबी या घटीन्द्रिय रूप देना ही है जो मूल रूप में मानसिक कुष्ठार्थों पर धामित होते हुए भी प्रत्यक्ष में यमायत का रूप नहीं है। वास्तव पर अंतर्मुखी दृष्टि डालते हुए उसको बायबी प्रकृति घटीन्द्रिय रूप देने की यह प्रकृति ही छायावाद की मूल वृत्ति है। उसकी सभी धर्म्य प्रकृतियों की इसी अंतर्मुखी बायबी वृत्ति के आधार पर व्याख्या की जा सकती है।

व्यक्तिवाद

यह अंतर्मुखी प्रकृति बिन विभिन्न रूपों में व्यक्त होती है जगमे सबसे मुख्य है व्यक्तिवाद। व्यक्तिवाद के दो रूप हैं। एक विषय पर विषयी की मनसा का आरोप प्रकृति वस्तु को व्यक्तिगत भावनाओं में रंगकर देखना। दूसरा समष्टि से निम्नेष्ट होकर व्यष्टि में ही जीत रहना।

हिबेरी युग की कविता इतिहासपरिक और वस्तुगत थी। उसकी प्रति क्रिया में छायावाद की कविता आत्मिक एक आत्मगत हुई। दूसरे, उस कविता का विषय बहिर्लोक सामाजिक जीवन का हिबेरी युग का कवि बहिर्मुख होकर कविता लिखता था। छायावाद की कविता का विषय अन्तरंग व्यक्तिगत जीवन हुआ। छायावाद का कवि आत्मसीन होकर कविता लिखने लगा। उसका यही व्यक्तिभाव प्रसार में आत्मभाव निराला में अद्वैतभाव पन्थ में आत्म रति और महादेवी में परोक्ष-रति के रूप में प्रकट हुआ।

शृ गारिकता

अंतर्मुखी प्रकृति की दूसरी अभिव्यक्ति है शृ गारिकता। छायावाद की कविता प्रचानतः शृ गारिक है क्योंकि उसका पन्थ हुआ है व्यक्तिगत कुष्ठार्थों से और व्यक्तिगत कुष्ठार्थ प्रायः काम के चारों ओर केन्द्रित रहती है। जिस समय छायावाद का जन्म हुआ उस समय स्वच्छंद विचारों के घादान से स्वतंत्र प्रेक्ष के प्रति समाज में आकर्षण बढ़ रहा था परन्तु सुधारणुप की कठोर नैति कता से सहमकर वह अपने में ही कुच्छित रह जाता था। समाज के शितन मन पर नैतिन आतंक सभी इतना अधिक था कि इस प्रकार की स्वच्छंद भावनाएं अभिव्यक्ति नहीं पा सकती थीं। निदान के अन्तर्गत में उतरकर वहाँ से अत्यन्त रूप में व्यक्त होती रहती थी। और, यह अत्यन्त रूप धा नारी का घटीन्द्रिय सौंदर्य प्रकृति घटीन्द्रिय शृ गार। छायावाद का यह घटीन्द्रिय शृ गार दो प्रकार

से व्यक्त होता है। एक तो प्रकृति के प्रतीकों द्वारा प्रकृति पर नारी-भाव के आरोप द्वारा। दूसरे नारी के प्रतीक्रीय सौंदर्य द्वारा अर्थात् उसके मन और आत्मा के सौंदर्य को प्रधानता देते हुए उसके शरीर के समानम विवरण द्वारा।

छायावाद में शृंगार के प्रति उपभोग का भाव न मिलकर, विस्मय का भाव मिलता है। इसलिए उसकी अभिव्यक्ति स्पष्ट और मान्य न होकर कल्पना मय या मनोमय है। छायावाद का कवि प्रेम को शरीर की भूख न समझकर एक रसमयी चेतना समझता है। नारी के चर्मों के प्रति उसका आकर्षण नैतिक धार्मिक से सहजकर जैसे एक धम्मल कौतूहल में परिणत हो गया है। इसी कौतूहल ने छायावाद में कवि और नारी के व्यक्तित्व के बीच घनेक रोशनी क्षिप्तमिल परें आस दिए हैं और वास्तव में छायावाद के क्षिप्तमिल काव्य चित्रों का मूल उद्गम ये ही क्षिप्तमिल पर्व हैं। उनके बायबो रूप-रसका बीमब रन्ही से उन्कीर्ण होना है और इन्हीं पर आधित होने के कारण छायावाद की काव्य-नामधों के अधिकांग प्रतीक काम प्रतीक हैं।

प्रकृति पर चेतना का आरोप

छायावाद में प्रकृति के चित्रों की प्रचुरता है। कुछ विद्वानों की तो यह धारणा है कि छायावाद का प्राण-उत्सव ही प्रकृति का मानवीकरण अर्थात् प्रकृति पर मानव-व्यक्तित्व का आरोप है। यह सत्य है कि छायावाद में प्रकृति का निर्भीक चित्राचार अथवा उद्दीपक आभावरण न मानकर ऐसी चतन सत्ता माना गया है जो अनाविनाम से मानव के माय मन्दनों का आदान प्रदान करती रही है। परन्तु फिर भी प्रकृति पर मानव-व्यक्तित्व का आरोप छायावाद की मूल प्रवृत्ति नहीं है बल्कि स्पष्ट छायावाद प्रकृति-काव्य नहीं है और इसका प्रमाण यह है कि छायावाद में प्रकृति का चित्रण नहीं है बल्कि प्रकृति के स्वर्ण से मन में जो छाया-चित्र उठे उनका चित्रण है। जो प्रकृति प्रकृति पर मानव व्यक्तित्व का आरोपण करती है वह कोई बिना प्रकृति नहीं है वह मन की बुद्धि कावना ही है जो अचक्षेत्त में पशुंभकर मूर्ख रूप धारण करके प्राकृतिक प्रतीकों के द्वारा अपने को व्यक्त करती है। निदान प्रकृति का उपयोग यहाँ दो रूपों में हुआ है। एक कोमाहममय जीवन में दूर आन्तस्मिन्ध विषाम-भूमि के रूप में और दूसरे शरीक रूप में। मन ऐतव्य और स्वच्छन्ता जो जीवन में नहीं मिल सके वह प्रकृति में प्रचुर मात्रा में मिले अतएव कवि की मनो कावनाएं बार-बार उमोके मधुर संकल में गलति सगी और प्रकृति के प्रति आकर्षण बढ़ जाने में स्वभावतः उमोके प्रतीक प्री अधिर रचिहर और प्रेम हुए।

मूल दर्शन

जीवादि गुपी महारेवी कर्मा ने कहा है, छायावाद का मूल-दर्शन सर्वोपवास

है—प्रकृति के घन्तर में प्राण चेतना की भावना करना सर्वात्मवाद की ही स्वीकृति है। उन्होंने वैदिक ऋचाओं से समानान्तर उद्धरण देकर यह स्थापित किया है कि प्रकृति में स्पन्दित जीवन-चेतना की पहचान भारतीय कवि के लिए नहीं न होकर अत्यन्त प्राचीन है—सनातन से बसी घा रही है। छायावाद में समस्त बड़-चेतन को मानव चेतना से स्पन्दित मानकर अंकित किया गया है और इस भावना को यदि कोई दार्शनिक रूप दिया जायगा तो वह निश्चय ही सर्वात्मवाद होगा। परन्तु क्रम का भेद है। छायावाद का कवि धारम्भ से ही सर्वात्मवाद की अनुभूति से प्रेरित नहीं हुआ है। उसकी प्रेरणा उसकी कृत्तित वासनाओं में से ही आई है, सर्वात्मवाद की रहस्यानुभूति से नहीं यह निबिबाद है। इसे न मानना प्रयत्न का नियेष करना है। और इसका प्रमाण यह है कि 'पस्तक' 'नीहार' 'परिमल' 'भासू' आदि की मूलवर्ती वासना अप्रत्यक्ष और सूक्ष्म तो प्रबल है परन्तु सर्वथा उदात्त और आध्यात्मिक नहीं है।

प्रायः के बुद्धिजीवी कवि के लिए वासना को सूक्ष्मतर करना तो साधारणतः संभव है परन्तु आध्यात्मिक अनुभूति का होना उसके लिए सहज सम्भव नहीं है; और यह स्वीकार करने में किसीको भी बाधित नहीं होनी चाहिए कि पद्य युद्ध के बावज़िन कवियों के हृदय से छायावाद की कविता उद्भूत हुई उनपर किसी प्रकार आध्यात्मिक अनुभूति का आरोप नहीं किया जा सकता। इसके प्रतिरिक्त उस अवस्था में तो कोई विशेष परिणति भी सम्भव नहीं थी। वह उन कवियों का ठारम्भ या बल मन की सहज भावनाएं अभिव्यक्ति के लिए प्राकुप्त हो रही थीं। बाद में प्रसाद या महादेवी भारतीय आध्यात्म दर्शन के सहारे, प्रबला पंथ बेस-विशेष के वर्णों के आचार पर, उसे परिष्कृत एवं संस्कृत बने ही कर पाए हों परन्तु धारम्भ से कोई दिव्य प्रेरणा उन्हें भी यह मानना प्रसव्य होना।

अतएव प्रकृति पर मानवता का आरोप कम से कम धारम्भ में तो निश्चय ही अनुभूति का उत्पन्न न होकर अभिव्यक्ति का प्रकार था। शृंगार और स्वच्छन्दता की भावनाएं जिन्हें परिस्थिति के अनुरोध से प्रकृत रूप में अभिव्यक्त करना संभव नहीं था प्रकृति के रणकों से अस्योक्ति आदि के द्वारा व्यक्त होती थीं। बस इसके प्रतिरिक्त उपर्युक्त प्रकृति की कोई भी मनोवैज्ञानिक व्याख्या सम्भव नहीं। सर्वात्मवाद का बुद्धि द्वारा पहल तो सहज सम्भव है परन्तु उसकी अनुभूति के लिए उस समय छायावाद के किसी भी कवि को सँभल किया जा सकता था। उस समय स्वच्छन्द छायानुभूतियों से छायावाद का निर्माण हो रहा था जो एक विधिष्ट परिस्थिति में विधिष्ट संस्कार के कवियों की जीवन के प्रति सहज प्रतिक्रिया थी प्रपतिवाद की तरह किसी ठोस बहनी बौद्धिक जीवन-दर्शन के मन को टकरा-टकराकर प्रेरणा नहीं दी जा रही थी।

यही बात रहस्यानुभूति के विषय में कही जा सकती है। (बहिरंग जीवन से सिमटकर जब कवि की चेतना ने धंतरला में प्रवेश किया तो कुछ बौद्धिक जिज्ञासाएं—जीवन और मरण—सम्बन्धी—काव्य में धा जाना सम्भव ही जा और वे साह। कुछ धार्म्यात्मिक दृष्टि तो प्रत्येक भावुक के जीवन में घाते ही हैं। अतएव छायावाद की रहस्योक्तियां एक प्रकार से जिज्ञासाएं ही हैं। वे धार्मिक साधना पर धाधित न होकर कहीं भावना कहीं चित्तन और कहीं केवल मन की दसना पर ही धाधित हैं।

छायावाद क ये ही मूल तन्तु हैं। इन्हीं में धाभिन्न रूप से युवा हुआ धापकी विषाद का नीसा तन्तु भी मिसेगा जो धसन्तुष और कुष्ठा का परिणाम है। परन्तु यह विषाद सन्ध्या की कालिमा न होकर धरयूप की चिन्तित नीहारिका है। इसमें धुमङ्गन है पणजय महीं। 'नीरवा' के विषाद और 'निधा-निमन्त्रण' के विषाद की तुलना मेरे धाधय को स्पष्ट कर देगी। इसका कारण यह है कि छायावाद की दुनिया धनुभूत दुनिया थी। बचन के समय तक धाकर वह धधिक जीवन-गत (धनुभूत) हो चुकी थी। अतः छायावाद की निरासा भी धनुभूत होने के कारण धान्त और पर्वर नहीं हो गई थी वह स्पन्दित और स्तूर्त थी। छायावाद के चिर उपहसित पीड़ा प्रेम का यही ध्यास्थान है।

ध्राप्तियां

छायावाद के विषय में तीन प्रकार की ध्राप्तियां हैं—

पहला ध्रम उन लोगों ने पढाया है जो छायावाद और रहस्यवाद में धन्तर नहीं कर पाते। धारम्भ में छायावाद का यही दुर्भाग्य रहा। उस समय के धासोचक इमी ध्रम का पोषण करते हुए उसे कोमते रहे। यद्यपि धात्र यह ध्रम ध्राय निर्मूल हो गया है तो भी छायावाद के कतिपय कवि और समर्थक छायावाद के मुहुमार दरीर पर से धार्म्यात्मिक चित्तन का मृग-धर्म उतारने को टीवार महीं हैं। रामकुमारजी धात्र भी कबीर के योग की दग्गाबसी में धपने काव्य का ध्यास्थान करते हैं। महादेवीजी की कविता के उपात्मक धर भी प्रवृत्ति और धुरध के रूपकों में उनके किना उसका महत्त्व समझने में धसमर्थ हैं। यही तर्क कि स्वयं महादेवीजी ने भी छायावाद के ऊपर सर्वात्मवाद का माटी बोझ माद दिया है।

इसके विरोध में जैसा मैंने धात्री कहा एक प्रवण प्रमाण यही है कि छायावाद एक बौद्धिक धुग की सृष्टि है। उसका जगम साधना से—यही तर्क कि धात्र धार्म्यात्मिक विद्वान ने भी—नहीं हुआ। धनएव उनके रूपकों और प्रतीकों को दधान्य मानकर जग पर रहस्य-साधना धपवा रहस्यानुभूति का धारोप करना धनर्थ करता है ध्राप्तियों का पोषण करना है।

दूसरी ध्राप्ति उन धासोचरों की कीर्तार्द हुई है जो धूम-वर्तिनी विधिष्ट

परिस्थितियों का सम्बन्ध न कर सकने के कारण—और उन अपराधियों में मैं भी हूँ—केवल बाह्य साम्य के आधार पर छायावाद को यूरोप के रोमांटिक काव्य-सम्प्रदाय से अभिन्न मानकर चले हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि छायावाद मूलतः रोमानी कविता है और दोनों की परिस्थितियों में भी आगरण और क्रुष्टा का मिश्रण है। परन्तु फिर भी यह कैसे सूना जा सकता है कि छायावाद एक सर्वथा भिन्न देश और काल की सृष्टि है। वहाँ छायावाद के पीछे असफल सत्याग्रह या वहाँ रोमांटिक काव्य के पीछे फाँस का सफल विद्रोह या जिसमें जनता की विजयिनी सत्ता ने समस्त जाबूत बेसों में एक नवीन आत्म-विरासत की लहर दौड़ा भी थी। फलस्वरूप वहाँ के रोमानी काव्य का आधार अपशाकृत अधिक निश्चित और ठोस था उसकी दुनिया अधिक मूर्त थी उसकी भाषा और स्वप्न अधिक निश्चित और स्पष्ट थे उसकी अनुभूति अधिक तीव्र थी। छायावाद की प्रेरणा यह निश्चय ही कम प्रसन्न थी एवं नायबी था।

ठीसरे भ्रम को जन्म दिया है आचार्य शुक्ल ने जो छायावाद को धर्म का एक उत्कृष्ट-मात्र मानते थे। जनता मत है कि विदेश के अभिव्यञ्जनावाद, प्रतीकवाद आदि की भाँति छायावादसैली का एक प्रकार-मात्र है।

इस भ्रम का कारण है शुक्लजी की वस्तु-परक दृष्टि, जो वस्तु और अभिव्यञ्जना में निश्चित अन्तर मानकर चलती थी। वास्तव में जन-रो-बार होने-गिने सम्प्रदायों को छोड़कर, जो आन-बुझकर धैर्य-मत प्रयोगों को लेकर चले हैं कोई भी काव्यकार केवल अभिव्यञ्जना का प्रकार नहीं हो सकता। जिन अभिव्यञ्जना या प्रतीकवाद का उन्होंने उल्लेख किया है वे भी कुछ टेक्नीक के प्रयोग नहीं हैं उनके पीछे भी एक विशिष्ट अनुभूत भाव-पारा और विचार पारा है। अत्यंत सच्ची काव्य-भाषा के लिए अनुभूति की अन्तर्प्रेरणा अनिवार्य है और वहाँ अनुभूति की अन्तर्प्रेरणा है वहाँ काव्य टेक्नीक-मात्र का प्रयोग कैसे हो सकता है? छायावाद निश्चित ही कुछ कविता है। उसके पीछे अनुभूति की अन्तर्प्रेरणा अस्विकार्य है। उसकी अभिव्यक्ति की विशेषता भाव-व्यक्ति की विशिष्टता के ही कारण है।

निष्कर्ष

निष्कर्ष यह है कि छायावाद एक विशेष प्रकार की भाव-व्यक्ति है जीवन के प्रति एक विशेष भावार्थक दृष्टिकोण है। जिस प्रकार भक्ति-काव्य जीवन के प्रति एक प्रकार का भावार्थक दृष्टिकोण था और रीति-काव्य एक-दूसरे प्रकार का उसी प्रकार छायावाद भी एक विशेष प्रकार का भावार्थक दृष्टिकोण है।

इस दृष्टिकोण का आशय मनुजीवन के स्वर्णों और क्रुष्टाओं के सम्मिलण

से बना है प्रकृति अन्तर्मुखी तथा बायबी है और अभिव्यक्ति है, प्रायः प्रकृति के प्रतीकों द्वारा। विचार-पद्धति उसकी उत्पत्ति सर्वात्मवाद मानी जा सकती है। परन्तु वहाँ से इसे सीधी प्रेरणा नहीं मिली।

यह तो स्पष्ट ही है कि छायावाद का काव्य प्रथम खेती का विश्वकाव्य नहीं है—कुष्ठ की प्रेरणा प्रथम खेती के काव्य को जन्म नहीं दे सकती। प्रथम खेती के काव्य की सृष्टि तो पारदर्शी कवि के द्वारा ही सम्भव है जिसने सिध यह जीवन और अमृत अनुभूत हों और जो सत्य को प्राप्त कर चुका हो। परन्तु यह सौभाग्य संसार में कितनों को प्राप्त है? इसके अतिरिक्त संसार का अधिकांश काव्य कुष्ठ-आत ही वा है। उसकी तीव्रता और बैभव-वितास का अन्तःप्राम कुष्ठा में ही तो होता है।

इस सीमा को स्वीकार कर लेने के उपरान्त छायावाद को अधिक से अधिक गौरव दिया जा सकता है। और सच ही जिस कविता ने एक नवीन सौन्दर्य खोजना जमाकर एक बहुल समाज की अभिरुचि का परिष्कार किया जिसने उसकी बन्धु-भाव पर घटक आने वाली दृष्टि पर बार रफ़्तकर उसको इतना मुकीसा बना दिया कि हृदय के महत्तम गह्वरों में प्रवेश करके सूक्ष्म से सूक्ष्म और तरल से तरल भाव-बोधियों को पकड़ सकें जिनसे जीवन की कुष्ठग्रस्तों को अन्त रंग वाले स्वप्नों में गुह्यगुहा दिया जिनसे भाषा को नवीन हाव भाव नवीन अक्षु हास और नवीन विभ्रम जगदा प्रदान किये जिसने हमारे कला को असंख्य अन्तर्गत छाया-विशेषों में जगमग कर दिया और अन्त में जिनसे 'आमायनी' का समृद्ध रूपक 'अस्मद' और 'युमान्त' की कला 'वीरवा' के अक्षु-गोले मीठ परिमल और 'अनामिका' की अम्बर-शुम्बी उड़ान दी—उस कविता का गौरव अक्षय है। उसकी समृद्धि की समता हिन्दी का केवल अक्षि-काव्य ही कर सकता है।

प्रयोगवाद

यों तो प्रत्येक युग की ही कविता प्रयोगवादी होती है क्योंकि वह वस्तु और चीनी दोनों में अपनी पूर्णवर्ती कविता से मिला प्रयोग करके ही अपने प्राविर्भाव की खोज करती है। परन्तु इन दिनों यह विशेषण प्राच्य कविता की एक प्रवृत्ति-विशेष के लिए प्रायः रूढ़-सा हो गया है। अठारवीं के तीसरे दशक के अन्त में हिन्दी के कवियों में छायावाद के भावतत्त्व और रूप-आकार दोनों के प्रति एक प्रकार का असन्तोष-सा उत्पन्न हो गया था और धीरे-धीरे यह चारसा हड़ होती जा रही थी कि छायावाद की वायवी भाव-वस्तु और उद्योग अनुस्यूत अत्यन्त बाह्य तथा सीमित काव्य-सामग्री एक संजी-सिस्य प्राच्य कविता की प्रति प्रतिष्ठित करने में सफल नहीं हो सकते। निरर्थक उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई— भाव-वस्तु में छायावाद की तरल-अमूर्त अनुभूतियों के स्थान पर एक ओर व्यावहारिक सामाजिक जीवन की मूर्त अनुभूतियों की माँग हुई—दूसरी ओर सुनिश्चित बौद्धिक चारणाओं का ओर बढ़ा और संजी-सिस्य में छायावाद की वायवी और अत्यन्त सूक्ष्म-सोमल काव्य-सामग्री के स्थान पर विस्तृत जीवन की मूर्त-सपन और नागरिकणी काव्य-सामग्री को आग्रह के साथ ग्रहण किया गया। आरम्भ में इस प्रतिक्रिया का एक समवेत रूप ही दिखाई देता था। कुछ ही वर्षों में इन कवियों के दो वर्ग पृथक् हो गए—एक वर्ग समवेत होकर निश्चित सामाजिक-राजनीतिक प्रयोजन से साम्यवादी जीवनदर्शन की प्रति प्रतिष्ठित की अपनी परम कवि-कर्तव्य मानकर रचना करने लगा। दूसरे वर्ग ने सामाजिक-राजनीतिक जीवन के प्रति जाग्रदृष्ट रहते हुए भी अपना साहित्यिक व्यक्तित्व बनाए रखा। उसने किसी राजनीतिक वाद की शक्ति स्वीकार नहीं की बल्कि काव्य की वस्तु और संजी-सिस्य को मूल प्रयोगों द्वारा आग्रह के अन्तर्गत रूप-प्रतिष्ठित, बिना प्रयोगशील जीवन के उपयुक्त बनाने की ओर अधिक ध्यान दिया। पहले वर्ग को हिन्दी में प्रवृत्तिवादी और दूसरे को प्रयोजनवादी नाम दिया गया। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन दोनों का पारंपरिक संबंध स्थिर और सीमापूर्ण,

रेखाएं एकान्त हड़ नहीं हैं। साहित्यिक बर्ण-विभाजन में यह कभी सम्भव ही नहीं होता—अनेक प्रयत्नकारी टीसी-विषय के प्रयोगों के प्रति अल्पन्त आगस्त्य हैं उभर अनेक प्रयागवाहियों की भाव भूमिका पर एकान्तता साम्यवाद का प्रभाव है। अन्तर कबल प्राथमिक उद्देश्य का है—पहला बर्ण जहां सामाजिक चेतना की जागृति को अपना प्राथमिक उद्देश्य मानता है दूसरा अर्थात् प्रयोगवादी बर्ण जहां बस्तु धीरे धीरे दोनों में ही फिर प्रयोगशीलता को प्राथमिकता देता है।

प्रयोगवादी कविता का मूल तत्त्व स्वभावतः ही नाभ्य-विषयक प्रयोग अथवा अन्वेषण है। 'दादा केवल यही है कि मैं सातों अन्वेषी हूँ। काव्य के प्रति एक अन्वेषी का दृष्टिकोण उन्हें समानता के मूख में बांधता है। × × × × बन्दि उनके तो एकत्र होने का कारण ही यह है कि वे किसी एक स्कूल के नहीं हैं किसी मजिस पर पहुँचे हुए नहीं हैं अभी राही हैं उहाँ के अन्वेषी। (असाय 'तार सप्तक' की भूमिका)। इस बर्ण के कवियों का विश्वास है कि जीवन की ही तरह काव्य भी एक अन्वेषण ही एक अन्वेषण ही सत्य है जिसकी वास्तविक साधना शोध अन्वेषण एवं प्रयोग है। अतएव बस्तु धीरे धीरे दोनों ही क दोष में ये काव्य के पूर्ववर्ती उपादानों को सन्नेह से देखत हैं धीरे मधीन उतरणों को आग्रहपूर्वक ग्रहण करने हैं। जीवन और काव्य दोनों में ही एतादृशत्व क ये धीरे विरोधी हैं। यह इनको सर्वथा असाध्य है कि किसी भी समय ऐसी अवस्था आ सकती है जब कि जीवन का सम्पूर्ण सत्य प्राप्त हो सकता है—धीरे फिर उसकी पुनरावृत्ति देव रह जाती है। यही बात काव्य पर भी लागू होती है। काव्य का परम तत्त्व प्रत्येक युग के लिए सत्य प्राप्त ही रहता है—अपने पूर्ववर्ती युग के प्राप्त पर कोई भी युग जीवित नहीं रह सकता।

प्रयोगवादी कविता का जन्म छायावाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में हुआ है। अन्वेषी साहित्य में भी प्रयोगवादी कविताओं में रोमांसी प्रवृत्ति के विरुद्ध विद्रोह का एक ही गाम्बर मितता है परन्तु वह व्यावहारिक की अथवा वैज्ञानिक अर्थिक है। हिन्दी में यह प्रतिज्ञा अर्थिक स्थिर और स्पष्ट है। भावरोज म छायावाद की अनीग्रियता धीरे नायनी सौन्दर्य-चेतना के विरुद्ध एक बस्तुगत मूर्त धीरे ऐश्वर्य बनना का विश्वास हुआ और सौंदर्य की परिधि में बबल मसुगा धीरे मधुर के अतिरिक्त परम अतगढ़ धीरे 'अभेग का समावेश किया गया। वास्तव में अनेक बर्ण न प्रतिज्ञा बोधमता और मारदं न उजवर अतगढ़ धीरे अदग को कुछ अर्थिक ही आग्रह के गाय अगु किया

निष्पत्तर पेमती हुई छत, भाड़ में निषेद
मृत्-मिचिन मृत्तिय म पृत्त मे
तीन टांगों पर राड़ा नत-मीप
पेय पन गदहा ।

यहाँ तो केवल वस्तु में ही भवेसपन है क्योंकि इनका लेखक अपने व्यक्तित्व के प्रतिरिक्त परिमार्जन के कारण भाषा को भवेस नहीं बना पाया है। शब्द बाँझ भवेसपन के लिए डा० रामबिलास और भी केदार, या हुंघ में नित्यप्रति अपने बानी कबिताएँ धारण हैं

सरग का उमर
नीचे पताल का
अपन के मारे बहुत बुरा हाल का
दिल दिमाग मुस क, लहर क लाल का।

(मागार्जुन—हुंघ)

अपने दृष्टिकोण की सफाई में उसने कहा कि सौंदर्य को केवल मधुर-कोमल में सीमित कर देना अत्यन्त संकुचित दृष्टि का परिणामक है। सौंदर्य-वेतना एक अत्यन्त व्यापक वेतना है और नर्यात्मक भी जो परिस्मिति के अनुसार विकसित होती रहती है। जिस प्रकार मधुर-कोमल उसका एक रूप है उसी प्रकार अतमक और परम भी। धात्र के जीवन में अलग-अलग और भवेस हमारे अधिक निकट है इसलिए उसकी वेतना हमारे लिए अधिक वास्तविक और स्वामा विक है।

धात्र का जीवन सर्वथा विमूर्खसिद्ध और अस्मयस्थित है। जीवन-मूर्खों की इतनी भयंकर अराजकता पहले धायर ही कभी सामने आई हो। राजनीतिक और धार्मिक दुर्व्यवस्था के साथ सांस्कृतिक और दार्शनिक अलभनों ने मिलकर जीवन में अमण्डित गुणियाँ बस भी हैं—जिनमें कि धात्र का विचारक फंसकर रह जाता है। इस प्रकार के राजनीतिक विप्लव तो पहले भी आए, परन्तु न नव वेतना पर उनका इतना सर्वव्यापी प्रभाव नहीं पड़ा। पर धात्र तो जैसे समाज और सम्यता का धाधार ही संघ हो गया है। इसका कारण यह है कि पहले तो राजनीति और संस्कृति प्रायः स्वतन्त्र थी किन्तु धात्र ने एक-दूसरे में मुँघ कई हैं। राजनीतिक विप्लव ने भयंकर आध्यात्मिक विप्लव की जन्म दे दिया है विरवास का मूख सर्वथा दिग्म-भिन्न हो गया है। और धात्र सबसे बड़ी कुबंठना यही सर्वप्राही अधिरवास है। धात्र न अध्यात्म-वर्तन में विरवास है, न भौतिक-वर्तन में। विज्ञान ने ईश्वर-विरवास तो हिना दिया है—परन्तु वह अपने में विरवास अमाने न अस्मय रहा है। समाज भी प्राचीन व्यवस्था भंग हो गई है परन्तु नवीन व्यवस्था बुर ठक दिगई नहीं देनी। राजनीति में हिंसा-अहिंसा प्रजासत्तवाद् साम्यवाद सर्वाधिकारवाद का और अर्थनीति में पूँजीवाद और समाजवाद का वर्तन के क्षेत्र में धारणवाद और इन्दारमक नीतिकवाद धादि का और मनोविज्ञान में वेतन और अवेतन अवेतन धादि का ऐसा कुहुराज मचा हुआ है कि धात्र के मानव की वेतना एकान्त घूमित

घोर तमनाच्छन्न हो गई है। ऐसी अवस्था में किसी स्थिर रोमानी सौंदर्य-बोध को ग्रहण कर पाना असम्भव है। यदि ऐसा किया जाता है तो वह वास्तविक घोर हार्दिक नहीं है—वह केवल काव्यनिक प्रपञ्च भावगत है। छायावादी सौंदर्य-बोध के विरुद्ध इन कवियों का यही प्रबल आश्रेय है—घोर से उसके प्रति कार स्व प्राज्ञ के आच्छन्न जीवन के अनुकूल मनुकूल सौंदर्य-भाव को ही वास्तविक एवं हार्दिक आनन्द मानकर पनते हैं।

जीवन-मूर्खों को यह अव्यवस्था नवीन काव्य में अत्यन्त मुखर है। साम्यात्मिक, सामाजिक घोर साहित्यिक उपादानों में कपु-गुरु के अन्तर को यह कवि मूढके के साथ अस्वीकार कर देता है—घोर मूर्ख घोर मेंडक बावनी रात घोर मूत्र निश्चित वृत्त में गड़े हुए मक्के मूपुर-अर्चि घोर अल्पत काट छिन्ने घोर बामी शाय की प्यासी को साब-साप ग्रहण करता है

तू सुनता रहा मधुर नुपु प्यनि यद्यपि बजती थी अल्पत ।

(भारतभूषण)

कप तक मगल मारता पीटें तुमसे कंट और घोडाके,
तक पुला जाता है यकै, उपड़ रह सीने के टकै।
जीपन घाता हो तो हो, यह प्यार कमी जानों से छाली,
यह सय एक विराट ध्यंग है, मैं हूँ सच ओ या करी प्याली ।

(माचरे)

यही ही प्रयोगवादी कविता का बस्तु-परक दृष्टिकोण घोर पकड़ता है। प्रयोगवादी कवि का ध्यग्रह है कि वह अपने दृष्टिकोण को अधिक से अधिक बस्तुगत बनाए बस्तु पर अपने मन का रंग न पड़ाकर बस्तु की आन्तरिक अर्थ-व्यंजना को अनुचित करे। प्राज्ञ के हिली कवि के लिए यह अत्यन्त दुर्लभ कार्य है क्योंकि वह छायावाद की अतिशय भावपरकता में पपा हुआ है। कबल बहार, रामधर बहादुर सिंह और अंधत अश्रेय ही इनमें सफल हो सके हैं। कारण यह है कि छायावाद के विरुद्ध उत्कट बैधता रखते हुए भी इनमें अधिकतर कवि उसके प्रभाव से मुक्त नहीं हो पाए।

वास्तव में देखा जाए तो इन कवियों के लिए अपने व्यक्तित्व से बचना सम्भव ही नहीं है। इनमें से अधिकतर कवियों की प्रवृत्ति एकात्म अन्तमुग्धी है घोर से अपने मन की निबिहता में उलझे हुए हैं—मनमें अधिक अश्रेय। मनो-विरामपट-शास्त्र के प्रभावबदा अकचेतन का अध्ययन इनकी कविता का मुख्य विषय है। अकचेतन की काम-तुच्छाओं का प्रतीकी द्वारा अघातप्य विषय घोर गिरिजाबुवार में अत्यन्त स्पष्ट है घोर किम अम्य कवि भी इनमें मुक्त नहीं है। छायावाद में भी यह प्रवृत्ति अत्यधिक प्रबल थी। परन्तु दोनों की अज्ञता में बारी अन्तर है। छायावाद का कवि जहां अज्ञाने ही अपनी

कृष्णार्थों को काम-प्रतीकों द्वारा (प्रधानतः प्रकृति-प्रतीकों द्वारा) सहज रूप में व्यक्त करता था वहाँ प्रबोधवादी कवि के प्रतीक-विधान में प्रबोधन-विज्ञान का संक्षेप्ट प्रयोग रहता है। इस प्रकार इस कविता में व्यक्तित्व की निबिड़ताओं को वैज्ञानिक प्रतीकों द्वारा वस्तुपत्र रूप में प्रकृत करने का प्रयत्न रहता है, और एक ऐसी बौद्धिक स्थिति उत्पन्न हो जाती है वहाँ वस्तुपरक और व्यक्तियरक दृष्टिकोण प्रतिष्ठानी न रहकर साधक-साम्य बन जाते हैं। कवि अपने प्रबोधन के सर्वव्यक्त अनुभव-संदर्भों को जो एकान्त व्यक्तियुक्त होते हैं, यथावत् वस्तु-रूप में प्रकृत करने का प्रयत्न करता है। यथावत् धंजन का वह प्रयत्न काव्य की विभ्य ग्रहण पद्धति के विपरीत पड़ता है। इसमें विधेय की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति का इतना उत्कट आग्रह रहता है कि कवि साधारणीकरण नहीं कर पाता—बल्कि एक प्रकार से वह साधारणीकरण को प्रनावस्मक ही मानता है। वह अपने विविध अभ्यवस्थित भाव-संदर्भों को उसी अभ्यवस्थित रूप में प्रतीकों द्वारा प्रस्तुत करने का प्रयत्न करता है। उसका धनीष्ट रहता है प्रबोधन की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति—अतएव वह निकटतम प्रतीकों का प्रयोग करता है। प्रबोधन भाव-संदर्भों के पास पहुँचते पहुँचते ये प्रतीक स्वयं भी सर्वव्यक्त और निबिड़ होते चले जाते हैं। परन्तु इसको वह सर्वथा स्वामात्रिक एवं अनिर्धार्य मानता है क्योंकि उसका मत है कि सर्वव्यक्त की अभिव्यक्ति के लिए पूर्णव्यक्त प्रतीक अर्थात्छिद्र है। वे अज्ञेय या पाठक को अभिप्रेत भाव-संदर्भ का संवेदन न कराकर उसके मन में किसी विभ्य भाव-संदर्भ अथवा आरणा की उत्पत्ति करते हैं। अतएव वह सर्वव्यक्त एवं अयम्बद्ध प्रतीकों का संक्षेप्ट प्रयोग करता है और अपने इस प्रयत्न में मनोविश्लेषण शास्त्र की 'मुक्त-विचार प्रवाह' 'स्वप्न-चित्र' आदि पद्धतियों से प्रत्यक्ष सहायता ग्रहण करता है।

परिणामस्वरूप एक गहन बौद्धिकता इन कविताओं पर सीधे के पतों की तरह बमती जाती है। छयाबाह के रंजीत कल्पना-वैभव और सूक्ष्म तरल भावना-चितन के स्थान पर यहाँ ठोस बौद्धिक तत्व का बोधोन्मादन है परन्तु स्मरण रहे कि ये रचनाएँ प्राचीन दार्शनिक अथवा चिन्तन-विचार-प्रधान कविताओं की परम्परा में नहीं आती। उदाहरण के लिए विनय-पत्रिका अथवा इतर प्रसाद महादेवी आदि की दार्शनिक कविता और नवीन प्रयोगवादी कविता में कोई साम्य नहीं है। उन कविताओं में वहाँ दर्शन अथवा विचार को राम का विषय बनाया गया है वहाँ इन कविताओं में प्रायः रागात्मक तत्व को बौद्धिक माध्यम द्वारा व्यक्त किया गया है। प्राचीन कविता में विचार और वाक्यानुभूति के बीच रागात्मक सम्बन्ध था पर इन कविता में विषय और वाक्यानुभूति के बीच बुद्धियुक्त सम्बन्ध है। वास्तव में इस कविता का मुख्य उपादान-साधन बौद्धिक धारणाएँ (Intellectual concepts) हैं जो प्रायः

विज्ञान राजनीतिशास्त्र मनोविज्ञान मनाबिस्मेषण-शास्त्र आदि की उपजीवी हैं।

यहाँ तक तो हुई भाव-वस्तु की बात। चीनी-विश्व के शोध में प्रयोगवाद का प्रायः घोर भी उल्लट है। 'जो व्यक्ति का अनुभव है उसे समष्टि तक कैसे पहुँचाया जाय यही पृथ्वी समस्या है जो प्रयोगशीलता को असकारणी है।' इस शोध में प्रथम विशेषता है भाषा का सर्वथा वैयक्तिक प्रयोग। प्रयोगवादी शब्द की प्रशिक्षित अर्थव्यवस्था को सामान्यतः ग्रहण करना पसन्द नहीं करता। अपने विशिष्ट अनुभव को व्यक्त करने के लिए वह साधारण शब्दार्थ को असमर्थ पाता है। इसलिए वह उसका विशिष्ट प्रयोग करता है—अर्थात् शब्द के साधारण अर्थ से बड़ा अर्थ उसमें भरना चाहता है। उसके मन में यह विश्वास बैठ गया है कि "साधारण्यीकरण की पुरानी प्रणालियाँ बूढ़ हो गई हैं। अतएव वह भाषा की अन्वय सद्बुधित होती हुई केंद्रित अङ्कुर उसमें नया अर्थिक व्यापक और सारगमिष्ठ अर्थ भरना चाहता है। इमने लिए वह तरह-तरह के प्रयोग करता है एक तो विज्ञान दर्शन मनोविज्ञान मनोबिस्मेषण-शास्त्र बाजार, गाँव गली-दूबे सभी जगह से शब्द एकत्र करता हुआ अपने शब्द भण्डार को व्यापक बनाता है; दूसरे शब्दों का विशिष्ट और सर्वथा अनर्गल प्रयोग करता है और तीसरे अपने अप्रस्तुत-विधान को अत्यन्त सघातारण रूप देने का प्रयत्न करता है। इसके अतिरिक्त वह भाषा की व्यञ्जना और समास एक्ति पर इतना भार मारने की चेष्टा करता है कि वह अस्त-व्यस्त हो जाती है और उसकी अर्थ-व्यञ्जना बहाव से देती है। अतः उस 'बड़े अर्थ' को पाठक के मन में उगार देने के लिए भाषा के साधन अर्थात् टुकड़े हैं, निदान उस इनर साधनों की शरण लेनी पड़ती है—“भाषा को अर्थात् पाकर विराम संकेतों अर्को और मोहो-तिरछी लक्ष्मियों धाँसे-बड़े टाइप सीबे-उल्टे अक्षरों लोगों और स्वार्थों के नामों अक्षरों बाक्यों” की शरण लेनी पड़ती है। या फिर वह बिदेह के प्रभाववादी मूर्तिवादी आदि प्रयोगों का जाने-भगजाने में अनुकरण करता हुआ पाठक के सामने एक गोरक्षपत्न्या उपस्थित कर देता है।

इसी प्रकार अर्थ-विधान में भी इस दुष्प्रसङ्ग भाव-वस्तु और तत्पुरुष अस्त-व्यस्त शब्द-नामकी को बहल करने या अर्थ-प्रयोग अनिर्वाह ही गए। पुराने बहिक और मात्रिक अर्थों की स्थिरता अर्थ-बोधन को अस्थिरता को बहल नहीं कर सकती। इसलिए प्रयोगवादी कवि प्रायः मुक्त शब्द को ही ग्रहण करता है और उनमें बहिक और मात्रिक अर्थों की दिग्ग-दिग्ग संयोजनार्थों से अतिरिक्त पदांश और स्वर-नाम आदि की भी व्यवस्था करता है। तुर्कों का वह अत्यन्त सूक्ष्म प्रयोग करता है पूर्णतः तुर्कों का तो वह प्रायः प्रयोग ही नहीं करता क्योंकि उसकी धारणा है कि पूर्णतः तुर्क अक्षर-बर्णों को

प्रतिषेध नाशमय बनाकर विषय की गम्भीरता के अनुकूल नहीं रहने देती। वह तुकान्त सभ्यों का प्रयोग श्रुत में न कर प्रायः पंक्ति के बीच में करता है—धीर उनके द्वारा भय को समूह करता है। इसके प्रतिरिक्त श्रुत से स्वतन्त्र संगीत को भी वह अपने माध्यम के अनुकूल नहीं पाता धीर उसका सतर्कता से महिम्ना करता है। श्रुत के ही अनुकूल उसके छह विधान में एक प्रकार की लक्ष्मणी निबिडता रहती है जो केदार, रामदेवहापुर सिंह जैसे कवियों में प्रत्यन्त बढ़ धीर नीरस हो जाती है, अश्लेष अपने शब्द चमन के बल पर उसकी लक्ष्मणी को तो धक्का कम कर देते हैं परन्तु सगीत का समावेश वे भी नहीं कर पाते। सगीत धीर अग्नि-सौन्दर्य की दृष्टि से गिरिजाकुमार की सफलता स्तुत्य है। वास्तव में नए कवियों में मधुर-कीमल स्वर-सौन्दर्य का व्यावहारिक ज्ञान उनको ही है।

उपर्युक्त विवेचन से एक बात जो प्रत्यन्त स्पष्ट हो जाती है वह है इन कविताओं की दुर्बलता। ये कविताएं अनिर्वाय रूप से ही नहीं सिद्धांत रूप से भी दुर्बल हैं। इस दुर्बलता के अनेक कारण ऊपर दिए हुए हैं—जिनमें चार मुख्य हैं भावतत्त्व धीर काव्यानुभूति के बीच रामायण के बजाय बुद्धिगत संबंध साधारणीकरण का श्याम उपभेदन मन के अनुभव-सर्वों के पञ्चाब्द विमल का भाषण तथा काव्य के उपकरणों एवं भाषा का एकांत वैयक्तिक धीर धन्यत्व प्रयोग। इनके प्रतिरिक्त एक धीर भी कारण है धीर वह है इन सबका मूलवर्ती कारण—भूतनता का सर्वप्राप्ति मोह जो सदा परिचित को छोड़ अपरिचित की खोज में रहता है। ये कारण यदि मानुषंगिक होते तो इनको सपट्टई के रूप में ग्रहण किया जा सकता था। परन्तु, इसके विपरीत ये सभी कारण सैद्धांतिक हैं। धीर, मेरा सबसे बड़ा आरोप यही है कि ये कारण सैद्धांतिक हैं क्योंकि इनके आधारभूत सिद्धांत ही सरोप हैं धीर मनोविज्ञान तथा काव्यशास्त्र दोनों की कसौटियों पर ही छोटे उतरते हैं।

सबसे पहले भाव-तत्त्व धीर काव्यानुभूति के बुद्धिगत संबंध को मीजिए। काव्य के विषय में धीर चाहे कोई सिद्धांत निश्चित न हो परन्तु उसकी रागात्मकता असंदिग्ध है। इसे धीरस्व धीर पाश्चात्य दोनों ही काव्यशास्त्र निर्भ्रान्त रूप से स्वीकार करते हैं। कविता मानव-मन का शेष दृष्टि के साथ रागात्मक संबंध स्थापित करती है—यह एक विद्वजनीन सत्य है धीर कविता की यही शरम सार्थकता है। समय-समय पर बुद्धि धीर राग में थोड़ी-बहुत प्रतिबोधिता रही हो वह दूसरी बात है परन्तु कभी भी बुद्धि को राग के स्थान पर काव्य का प्राणतत्त्व होने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ। जब कभी बुद्धि तत्त्व रागतत्त्व के ऊपर हावी हुआ है काव्यतत्त्व भी उसी अनुपात में क्षीण हो गया है। काव्य वा यह मापदण्ड छोटे-बड़े सभी कवियों के विषय में लागू रहा

है। वरि तुमसी मिलान प्रसार—जिस किमी कवि ने भी बौद्धिक तत्व के प्रति पक्षपात दिखाते हुए राग की उपेक्षा की है, काव्य के पारसी न तुल्य ही उसका बुद्धि-बैभव की प्रशंसा करते हुए भी काव्य-भूगु को लीगुता का निर्णय दे दिया है। इसका निपट करने का साहस टी० एम० इमियट ने भी नहीं है। काव्य की सार्यकता इसीमें है कि वह राग का संबैरतीय बनाए बौद्धिक तत्व का संबैरतीय बनाना काव्य का काम नहीं है। वरि का माहिय घमवा ललित साहित्य बन्धु के माहिय ने इसी बात में मूलतः भिन्न है। यह धम्तर जब तक काव्य का धम्तर है तब तक बना रहेगा। इसका तिराभाह हाने से काव्य के धम्तर पर ही भाषाण होता है। प्रयोगवादी कवि ने मनीनता की मोर में इसी मूल सिद्धांत का तिरस्कार कर काव्य के मर्म पर चार की है और इसका परिणाम यह हुआ है कि उसकी रचना प्रायः काव्य नहीं रह गई है उसमें मन की सार्प घमवा चित्त की इरिण करने की गति नहीं रही। दूसरे धम्तरों में—उसमें रम का भाषाण है। पहले ठा उनका धर्म हो हाय नहीं पटना और यदि किनाग की कुरबकर उनका धम निराम भी निपा जाय ना पाटक के मन का प्रमादन नहीं होता और उन एक प्रहार की लीम्मी हानी है।

प्रयोगवादी कवि का दूसरा धाषह है उनचतन की उनमी हुई संबैरताधों का घमवाण चित्रण। यहाँ मो वह एक धर्मकर मनाबैरानिक बुटि करता है। धम्तरोंत घमवा उनचतन की संबैरताधों प्रायः ममी उनमी होती हैं। कमा या काव्य की सार्यकता ही यह है कि वह उन धम्तर को रूप देना है उसमें हुए संबैरताधों को व्यबस्थित रूप में प्रस्तुत करना है। काव्य के सिद्धांत में पाड़ा धम्तर मानने हुए भी इस बात का निपट नहीं किया जा सकता कि सहायानुभूति के पूर्व धनुमध का स्वरूप मधरताधों की मुतियों से भिन्न नहीं है। कवि मसहाया नुभूति की गति जनमाधारण की घमेगा धम्तर होती है—धम्तर जनमाधारण तिन उनमें हुए संबैरताधों का धनुमध भर करके रह जाता है कवि उनरो सहाया नुभूति कर उन्हें रूप दे सकता है। यहाँ मौलिक कवि धर्म है और इसीलिए एक प्राङ्गिक धम्तरकता के रूप में कविता का उद्भव हुआ। परन्तु प्रयोगवादी धम्तरने मन की उनमी हुई संबैरताधों को मपारण धर्मोत्तमी उनमें रूप में उपलिन करने के लिए उनमें-मीबे प्रयत्न करना हुआ धम्तरकता के मूल सिद्धांत का ही तिरस्कार करना है। धम्तरक म उमक प्रयत्न की धम्तराव धम पसता ही उनमें सिद्धांत की धम्तरनि का धम्तराव प्रमाण है।

साधारणीकरण की पुठानी प्रमाणियों के रव हो जान की बात भी कानी विचित्र है। प्रयोगवादी की मकाई है कि साधारणीकरण की पुठानी प्रमाणियों धम्तर के ओरन की धम्तरण उनकता का बहन बनने में धमधर्म है। कई प्रमाणियों की उद्भवना धमी मही हुई इसलिए कवि धम्तरने धर्मोत्तमी व्यक्ति के धनु

भूत को सहृदय—समाज—का अनुभूत बनाने में असमर्थ रहता है। परन्तु यह बात नहीं है। कवि नवीन प्रयोगों की पुन में साधारणीकरण का या तो प्रयत्न ही नहीं करता या फिर ऐसा प्रयत्न करता है जिसमें साधारणीकरण के मूल सिद्धान्तों का ही निषेध रहता है। वास्तव में साधारणीकरण धैमी का प्रयोग न होकर एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है जिसका मूल आधार है मानव-मुक्तम सह-अनुभूति। इसमें सन्देह नहीं कि प्राज्ञ का जीवन विमल जीवन की अपेक्षा कहीं अधिक उत्तम और पेशीवा हो गया है और मानव-मन की प्रवृत्तियाँ भी उसी अनुपात से निबिड़ एवं अन्तर्नि हो गई हैं। फिर भी साधारणीकरण के सिद्धान्त में इससे कोई अन्तर नहीं प्राता क्योंकि कवि के मन की निबिड़ता भी तो उसी अनुपात से बढ़ गई है। बिन परिस्थितियों ने कवि के मन को प्रभावित किया है उन्हींने सहृदय के मन पर भी प्रभाव डाला है। अतएव कवि और सहृदय के मानसिक बराबर में एक-सा परिवर्तन होने के कारण साधारणीकरण की स्थिति बँसी ही रहती है। परन्तु वास्तविकता यह है कि कवि साधारणीकरण का प्रयत्न ही नहीं करता। वह विशेष को साधारण रूप में प्रस्तुत करने के बजाय विशेष रूप में ही प्रस्तुत करने का बेलुका प्रयत्न करता है। बावजूद उसके और सहृदय के बीच मानसिक सम्पर्क स्थापित करने का माध्यम तो बही हो सकता है जो दोनों के लिए—साधारण हो। परन्तु वह इस साधारण को पुराना समझकर नए माध्यम की खोज में न जाने क्या-क्या बमत्कार बिताता है। लेकिन वास्तव में यह सब कुछ नहीं है। यह कवि की सहजानुभूति की विफलता-मात्र है। उसने उत्तम को एक प्रयोगवादी सिद्धान्त के रूप में ऐसे प्राग्रह के साथ स्वीकार कर लिया है कि वह उसने एक प्रकार के पीरब का अनुभव करता है। एक तो उसकी संवेदनाएँ ही इतनी उत्तम ही हैं कि उनकी सहजानुभूति अर्थात् उन्हीं विमल रूप में प्रस्तुत करना अपेक्षाकृत कठिन है और वह उत्तम को ही 'संवेदनीय' मान बैठा है। परिणाम यह होता है कि उसकी अविभक्तित सर्वथा विफल रहती है। इसके अतिरिक्त अनेक स्थितियों में इस विफलता का कारण कवि में सहजानुभूति की अभावता भी होती है। कवि की अनुभूति में ही इतनी अविभक्त नहीं होती कि वह संवेद को विमल रूप में ग्रहण और प्रस्तुत कर सके। सहजानुभूति को कोषे न कल्पना का पुस माना है। परन्तु यह कल्पना भी सर्वथा अनुभूति ही पर आधारित है। अतः सहजानुभूति के लिए अनुभूति-समता सर्वथा अपेक्षणीय है। जब तक अनुभूति में अविभक्त नहीं है कवि के मन में संवेदनों का विमल बनाना सम्भव नहीं है। प्रयोगवादी कवि बुद्धि-व्यवसायी है अपनी अनुभूति पर उसे विश्वास नहीं है। परिणामतः वह सहजानुभूति में असमर्थ रहता है अर्थात् अपने संवेद को विमल रूप में न तो वह ग्रहण कर सकता है—और न प्रस्तुत ही कर सकता है—और इसके बिना

कामायनी में रूपक-संरच

कामायनी के रूपक-संरच की व्याख्या करने से पूर्व दो प्रश्नों का उत्तर देना अनिवार्य हो जाता है

१ रूपक से क्या अभिप्राय है ? और २ कामायनी रूपक है भी या नहीं ?

रूपक के हमारे साहित्य-शास्त्र में दो अर्थ हैं। एक तो साधारणतः समस्त दृश्य काव्य को रूपक कहते हैं दूसरे रूपक एक साम्य-मूलक अर्थकार का नाम है जिसमें अप्रस्तुत का प्रस्तुत पर अभेद-भारोप रहता है। इन दोनों से भिन्न रूपक का तीसरा अर्थ भी है जो अपेक्षाकृत प्रचुरातन अर्थ है और इस नवीन अर्थ में रूपक अंग्रेजी के 'एलियरी' का पर्याय है। 'एलियरी' एक प्रकार के कथा-रूपक को कहते हैं। इस प्रकार की रचना में प्रायः एक द्वि-अर्थक कथा होती है जिसका एक अर्थ प्रत्यक्ष और दूसरा सूक्ष्म होता है। हमारे यहाँ इस प्रकार की रचना को प्रायः अन्वयार्थक कहा जाता था। आर्यभट्ट के परमात्मत के लिए आचार्य शुक्ल ने इसी शब्द का प्रयोग किया है। रूपक के इस नवीन अर्थ में वास्तव में संस्कृत के रूपक और अन्वयार्थक दोनों अर्थकारों का योग है। इसमें वहाँ एक और साधारण अर्थ के अतिरिक्त एक अर्थ अर्थ—सूक्ष्म—रहता है वहाँ अप्रस्तुत अर्थ का प्रस्तुत अर्थ पर अनेक साम्य आदि के आचार पर अभेद-भारोप भी रहता है। कहने का तात्पर्य यह है कि रूपक अर्थकार में वहाँ प्रायः एक वस्तु का दूसरी वस्तु पर अभेद भारोप होता है वहाँ कथा रूपक में एक कथा का दूसरी पर अभेद भारोप होता है। वहाँ भी एक कथा प्रस्तुत और दूसरी अप्रस्तुत रहती है। प्रस्तुत कथा स्पष्ट भौतिक घटनामयी होती है और अप्रस्तुत कथा सूक्ष्म-सैद्धांतिक होती है। यह सैद्धांतिक कथा काव्यार्थक नैतिक राजनीतिक सामाजिक वैज्ञानिक मनोवैज्ञानिक आदि किसी प्रकार की हो सकती है। परन्तु इनका अस्तित्व पूर्ण नहीं होता। यह प्रायः प्रस्तुत कथा का अर्थ ही होता है जो उमसे ध्वनि होता है—विषी प्रकथ-वाक्य की प्रासंगिक कथा की भाँति बुझा हुआ नहीं होता।

इस प्रकार इस निश्चित धर में रूपक से तात्पर्य एक ऐसी द्वि-अधक कथा से है जिसमें किसी सञ्ज्ञात्मक अग्रस्तुतायें प्रथमा अन्याय का प्रस्तुत धर्य पर अभेद धारण रहता है ।

अतएव कथा कामायनी रूपक है ? — इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए हमें यह देखना है कि कथा कामायनी की कथा में प्रस्तुतार के अतिरिक्त किसी सञ्ज्ञात्मक अग्रस्तुतायें की अन्तर्भाव भी वर्तमान है । इन प्रश्न के उत्तर का संवेत प्रयादनी ने स्वयं कामायनी के आमुख में दिया है ।

‘‘आर्य साहित्य में मानकों के आदि पुर्य मनु का इतिहास वेदों से मकर पुराण और इतिहासों में बिलरु हुमा मिसता है । इसलिए बैबस्वत मनु को ऐतिहासिक पुर्य ही मानना उचित है । × × ×

यदि अज्ञा और मनु अर्थात् मनन क सहयोग से मानवता का विकास रूपक है तो भी बड़ा भावमय और रसाभ्य है । यह मनुष्यता का मनोवैज्ञानिक इतिहास बनने में समर्थ हो सकता है । × × ×

यह आश्चर्य इतना प्राचीन है कि इतिहास में रूपक का भी अस्तुत मिथण हो गया है । इसलिये मनु अज्ञा और अज्ञा इत्यादि धयना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए, सांकेतिक धर्य की भी अभिव्यक्ति करें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं । मनु अर्थात् मन के दोनों पण हृदय और मस्तिष्क का सम्बन्ध क्रमशः अज्ञा और अज्ञा से भी सरलता से मय जाता है । इन सभी के आधार पर कामायनी की मृष्टि हुई है ।’’

इसका अभिप्राय यह है कि कामायनी को कवि ने मूलतः एव ऐतिहासिक आभ्य क रूप में ही मिसा है परन्तु इसकी कथा में रूपक की सम्भावनाएँ निहित हैं और यदि इस रूपक भी मान लिया जाय तो कवि को बहु अम्बीकाय नहीं होया । अर्थात् मूल रूप में नहीं तो गौण रूप में कामायनी में रूपक-तत्व निश्चित ही वर्तमान है । इसके अतिरिक्त कामायनी के पात्रों का प्रतीकमय सांकेतिक अस्तित्व तथा उनकी मुख्य घटनाओं का समय-अभिन्न गूढार्थ दोनों ही इस मय की मृष्टि करते हैं । अतएव कामायनी में रूपक-तत्व की स्थिति क विषय में संदेह नहीं किया जा सकता । यह निरपय ही है और वादी स्पष्ट है ।

कामायनी की व्यक्त कथा में आदिम पुर्य मनु और उनकी महत्ती आदिम मारी अज्ञा के संयोग में मानव-मृष्टि क विकास का वर्णन है । अहकार की अनामयी स्थिति में ममरयता की अनामयी स्थिति तक—मनोमय कोण में अनामय कोण तक—उमका अग्रस्तुत पत्र है । कथा का प्रस्तुत पण ऐतिहासिक पौराणिक है और अग्रस्तुत पत्र मनोवैज्ञानिक-आमनिक है—और इस प्रकार दोनों पत्रों में निरर सम्बन्ध है या इस कथा की एक विशेषता है अण्यथा अण्यों में साधारणतः इस तरह का निरर सम्बन्ध रहता नहीं है ।

पहले पार्श्वों को लीजिए कामायनी के प्रमुख पात्र हैं मनु, यज्ञा और इडा। इनके अतिरिक्त अन्य पात्र हैं—मनु-भद्रा का पुत्र कुमार तथा असुर पुरोहित माकुलि और कितात। काम और सखा अछरीरी पात्र हैं। वे मूलतः ही शक्तिशाली हैं। मनु, असाकि स्वयं प्रसादवी ने सिखा है, मन का—मनोमय कोश में स्थित जीव का—प्रतीक है। एक स्थान पर व्याकरण में मनु और मन को एक-रूप माना गया है। 'अम्यते अनेन इति मनुः—बिसके द्वारा मनन किया जाए वह मन है वही मनु है। मन से अभिप्राय यहाँ चेतना (Consciousness) से है। उसका मूल लक्षण है अहंकार—'मैं हूँ' की भावना—जो अनेक प्रकार के संकल्प-विकल्पों में अपनी अभिव्यक्ति करती रहती है। कामायनी के मनु के व्यक्तित्व का स्थायी आधार निस्संदेह वही अहंकार है

मैं हूँ, यह वरदान सदरा क्यों
लगा गुँजने कानों में।
मैं भी कहने लगा, मैं रहूँ
शास्वत नम के गानों में।
(भाषा)

किन्तु सकल कृतियों की
सीमा है हम ही अपनी तो।
पूरी हो कर्मणा हमारी
विफल प्रयास नहीं तो।
(कर्म)

यह जीवन क्य वरदान मुझे
दे दा रानी अपना दुलार।
केवल मेरी ही चिता क्य
तब बिच वहन कर सकें मार।
यह चलन नहीं सह सकता मैं
चाहिए मुझे मेरा ममत्व।
इस पंचभूत की रचना में
मैं समण कलें बन एक तत्व।

मननशीलता अर्थात् निरंतर संकल्प-विकल्प अहंकार के अंशरी है। उपनिषदों में संकल्प-विकल्प को मन की प्रजा कहा गया है। प्रथम दर्शन के समय हमारा मनु के इन्ही मननशील संकल्प-विकल्पमय रूप से आभास्कार होता है। मनु के व्यक्तित्व में आदि से अंत तक भूत भविष्यत् प्रकृति-वस्तु तत्त्व आदि के चिन्तन और तन्मय संकल्प-विकल्प का प्राबल्य है।

कामायनी की दूसरी प्रमुख पात्र है यज्ञा। यज्ञा प्रजापती के अनेक अर्थों

में हृदय की प्रतीक है। 'थड़ा हृदय वाकूत्या थड़ा बिन्दते बसु !' (अग्नेर)। कामायनी में स्वान-स्वान पर उसके इस रूप की स्पष्ट प्रतिवृत्ति मिलती है

हृदय की अनुवृत्ति पास उदार

एक लम्बी ध्या उमुक्त।

बह गम्भीरों क देव में हृदय-जला का मुन्दर सत्य मोचने के लिए घाती है। उसने व्यक्तित्व के मूल तत्व हैं एक घोर सहानुभूति तथा ममता मधुरिमा त्याग तथा समा घोर दूररी घोर अभाव विरवास उल्हाह प्रेरणा स्तूर्ति प्रादि जो हृदय के कोमल और मर्मम पनों की विभूतियां हैं। धुस्मकी न श्मोसिए थड़ा को विरवासमयी समान्मिथा वृत्ति बहा है। थड़ा को काम और रति की पुत्री माना गया है। और बह इस ममृति में प्रेम-कृपा का मदेश सुनाने के लिए पवठरित हुई है

यह लीला बिमकी विघ्न पत्नी

बह मूल राशि थी प्रम कला।

उसका संदेश सुनाने का

संज्ञति में आइ यह अमला।

सीमरी मुख पत्र है दृढ़ जो स्पष्ट बुद्धि की प्रतीक है। प्रमारकी ने स्पष्ट रूप से उसके व्यक्तित्व का प्रतीकात्मक चित्र चरित किया है

पिगरी अलके ज्यो तक आन

मरी ताल।

उप्युक्त चित्र में बुद्धि के एक मौखिक ज्ञान-विज्ञान त्रिगुण प्रादि सभी तरफों का अवयव रूप में समावेश कर दिया गया है। वैन भा उमका चरित एकांत बौद्धिक है। बह हृदय की विभूतियों में बंदिन व्यक्तताप्राप्ति का बुद्धि द्वारा अनुमानित है। जीवन की धमकना के स्वान पर बह वर्ग-विभाजन और धर्म के स्वान पर भेद की व्यवस्था करती है।

अब पीण पत्र घर रह जाते हैं। मरने पहर थड़ा-मनु का पुत्र कुमार धाना है। उमका बार्द बिमोद व्यक्तित्व नहीं है—यहां तक कि उमका नामकरण संस्कार भी नहीं दिया गया। बह नयमानक का प्रतीक है जो धन विना न मननीयता मात्रा में थड़ा अर्थात् हार्दिक मुक्त और दृढ़ न बुद्धि प्रहण कर पूर्व मानवत्व को प्राप्त करता है। अमुर-युरोहिन घामुनि और विज्ञान घामुरी वृत्तियों के प्रतीक हैं। ज्यों ही मनु (मम) पाण (हिमा-यम) की घोर घाहृष्ट होता है घामुनि-विज्ञान (घामुरी वृत्तियां) उमको दुःखरणा देने के लिए तुम्ह हा उगमिन हो जाते हैं और उम दुःख में प्रवृत्त करने हैं। फिर अब मनु के बिन्दु बिरोह हाता है तो वे ही बिरोहियों के नेत्रा बदकर सामने धाने हैं। उमका अविश्राम यह है कि घामुरी वृत्तियों पत्र तो मन का पत्र-अम में प्रवृत्त

करती हैं फिर जब उसे इसके लिए कष्ट भोगना पड़ता है तो ये धामुरी वृत्तियाँ उभटते उसके कष्ट में योग देती हैं।

इनके प्रतिरिक्त देव भद्रा का पशु, धीर वृषभ तथा सोमलता के भी निरन्तर ही सांकेतिक धर्म हैं। देव इन्द्रियों के प्रतीक हैं। देवों की निर्वाचन मारुत-सृष्टि का धर्म है इन्द्रियों की निर्वाचन सृष्टि

अरी उपेक्षा मरी अमरती !

री अतपति ! निर्वाचन विलास ।

भद्रा का पशु भी जिसका नाम उषा जाति धारि का बर्लन ठठ नहीं दिया हुआ स्पष्ट एक प्रतीक है। वह प्रह्वर जीन-दया करुणा—प्राकृतिक धर्म में पहिँसा—का धोतक है

एक माया आ रहा था पशु अतिथि के साथ

हो रहा था मोह करुणा से सजीव सनाथ ।

वृषभ तो भारतीय धनुष्युति में अनादि काल से धर्म का प्रतिनिधि माना जाता रहा है

था सोमलता से आवृत

वृष भवल धम क्य प्रतिनिधि ।

सोमलता का सांकेतिक धर्म है शोध। इस प्रकार सोमलता से आवृत वृषभ का धर्म हुआ भोग-मयुत धर्म जिसका उत्सर्ग करके मानव चिरानन्दनीन हो जाता है।

जब तीन बार प्रतीक धीर रह जाते हैं। जल-प्लावन तिलोक धीर मान-सरोवर। जल-प्लावन भारत के ही नहीं पृथ्वी के इतिहास की अत्यन्त प्राचीन घटना है। हमारे दर्शन-साहित्य में इनको प्रतीक रूप में ग्रहण कर उसका सांकेतिक धर्म भी दिया गया है। जब मन धबाव इन्द्रिय-निष्ठा का दास हो जाता है अर्थात् जब मन ऊपर विज्ञानमय कोश धीर अज्ञानमय कोश की ओर बढ़ने के स्वान पर निम्नतम अज्ञानमय कोश में ही रम जाता है तो चेतना पृच्छा-उत्त माया में डूब जाती है।

तिलोक में प्राचीन त्रिपुरराह के स्वरु मे प्रेरणा ग्रहण को गई है धीर इसका प्रतीकार्थ अत्यन्त व्यक्त है। तीन लोक—भाव-लोक कर्म-लोक तथा ज्ञान लोक चेतना की तीन धमभूत प्रवृत्तियों—भाव-वृत्ति कर्म वृत्ति धीर ज्ञान-वृत्ति के प्रतीक हैं। जब तक ये तीनों वृत्तियाँ पृच्छ-वृच्छ कार्य करती हैं मन अज्ञान धीर उद्विग्न रहता है

ज्ञान दूर कुछ, किया भिन्न है

इच्छा क्यों पूरी हो मन बँदी,

एक दूसरे से न मिल सके
यह विडम्बना है जीवन की।

परन्तु जब यज्ञ के द्वारा इतना समन्वय हो जाता है ता मन समरमता का धवस्या को प्राप्त कर लेता है।

स्वप्न त्याग जागरण मम्म हा
इच्छा क्रिया ज्ञान मिल लय थे,
दिग्य अनाहत पर निनाद में
अदायुत मनु यम तन्मय थे।

मानसरोवर जिग वसपथ आहारा में मनोरथमर्षण कहा गया है—

‘तदप्यतदुत्तरस्य गिरेर्मनोरथसपणमिति’

—कैसाच धिगर पर बहु त्याग है जहाँ मनु यज्ञ की महायता से पट्टबडे हैं घोर धयो मानसिन कम्म मे मुक्ति पाते हैं। यह समरमता की धवस्या है मानसिक समन्वय की धवस्या जहाँ नाब कर्म घोर ज्ञान में पूर्ण सामञ्जस्य हो पाता है।

मानसरोवर या मानस (कामायनी में मानस वरुण का प्रयोग है) इसी समरमता की धवस्या का प्रतीक है। यह मानस कैसाच धिगर पर स्थित है—
कैसाच पर्वत धानस्यमय कोण का प्रतीक है।

कामायनी की प्रस्तुत कथा में मनु की कैसाच-स्थित मानसरोवर यात्रा का वर्णन है जहाँ पट्टबडर मनु के समस्त बन्ध दूर हो जात है। कपक की हृदयर यह मन का समरमता की धवस्या का प्राप्त करने का प्रयत्न है जिसके उपरान्त मन के समस्त मोलिक घोर धाम्प्यामिक बन्ध गप्ट हो जाते हैं घोर बहु पूर्णनिर्वा-सोन हो जाता है। पारिभाषिक भाष्याबनी में यह मनमय कोण में स्थित कोण की धानन्दमय कोण में स्थित होने के लिए तापना है। यह धानन्दमय कोण विशा-रुप पकत का उच्चतम धिगर कैसाच है। कामायनी की रचना के समय यह बहिक कथा स्वल्प प्रमाण जी के मन में विद्यमान था।

घाने प्रवृत्त रूप में मनु एकान्त मननशील तथा धवहाय है। के धवहारमय निरिच्य बिनन-मगन के धविक्रित घोर कुछ कहा कर पात। जहाँ जो काम की प्ररणा में काम घोर रति की पुत्री यज्ञा में मनु का संयोग हाठा है उनके जीवन के प्रति धानसग तथा श्रुति का उदय होता है। यज्ञा के माह धर्म में मनु के धानार का सम्मान होता है—यह स्व से पर की घोर बढ़ता है। कोण कीष में उतना धवकार उमरला है घोर धानुरी कृतिषों के प्राणि धानुन-विगत की कथायता में ब मनु यज्ञ कर धानरय की प्राप्ति करने है। परन्तु यज्ञा उगता तीव्र निरोध करती है घोर काम में काम कुछ समय के लिए उर उगका धनोपिय स्वीकार करने के लिए पाप्य करती है। इन प्रकार

जब तक मनु भद्रा के प्रभाव में रहते हैं उनके घर्ह का संस्कार होता रहता है। परन्तु वह स्थिति अधिक समय तक नहीं रहती मनु का घर्हकार फिर प्रसन्न हो जाता है

यह अज्ञान नहीं सह सकता मैं,
बाह्य मुझे मेरा ममत्व।
इस पंचभूत की रचना में,
मैं रमण करूँ घन एक तरण ॥

घौर के भद्रा से विरत होकर फिर भ्रमण में लो जाते हैं। भद्रा से विमुक्त होने पर मनु की वृत्तियाँ पुनः अस्त-व्यस्त हो जाती हैं घौर के जीवन-यत्र पर भटकते हुए सारस्वत प्रवेश पहुँचते हैं। सारस्वत प्रवेश जीव के निम्नतर कोश—माण्डव काश का प्रतीक है। यहाँ उनका साक्षात्कार इड़ा से होता है जो उन्हें बुद्धिवाक की बीसा देकर भौतिक जीवन की घोर प्रेरित करती है

जो बुद्धि कहूँ उसको न मान कर फिर नर किमकी शरण जाय ?

यह प्रकृति परम रमणीय अतिलक्ष्मि ऐश्वर्य-भरी शाश्वत-विहीन।
तुम उसका पटल सातने में परिफर कम कर घन कमलीन।
सक्य नियमन शासन करत वस बढ़ा जलो अपनी क्षमता।

इड़ा के प्रभाव में मनु बुद्धि-बन्ध से प्राकृतिक साधनों को एकत्र कर घासन व्यवस्था करते हैं—धर्म-विभाजन होता है जीवन में भौतिक संघर्ष का मूलपाठ होता है। मनु इन सबके नियामक हैं परन्तु मनु का घर्हकार इतने से संतुष्ट नहीं होता—इड़ा पर भी तो उनका अधिकार होता बाह्य ! वे उसके लिए प्रयत्नशील होते हैं—परन्तु यहाँ उन्हें मोर विफसता होती है। इस अनधिकार विपदा से वे स्व के कोप-भाजन बनते हैं। एक बार फिर प्रसन्न का सा हृद्य उपस्थित हो जाता है मनु का विद्रोही प्रजा के साथ युद्ध होता है जिसमें मनु की पराजय होती है।

इसका संकेत-अर्थ यह हुआ कि मन अपने प्रकृत रूप में केवल मतलबीय तथा घर्हकारी है। भद्रावान होकर ही घौर भद्रा का उद्यम मन में राम-वृत्ति के प्राधान्य के कारण ही सम्भव है उसका उचित विद्या में विकास-संस्कार होता है। भद्रा विद्यासमयी रागात्मिका वृत्ति का नाम है। 'भद्रा-समवेत' मन में अपने प्रति विरचास घौर जीवन के प्रति राम का उदय होता है। जो समय-ममय पर उसके आगुरी संस्कार निरूप्य ही उमरेंगे—उसका महान भोगवार ऊपर आणगा परन्तु जब तक वह भद्रावान है तब तक इनपर नियंत्रण रहेगा और उनके घर्ह का संस्कार होता रहेगा। परन्तु क्यों ही मन भद्रा का त्याग देगा वह नीचे प्राणमय कोश में पहुँच आया घौर बुद्धि के

ब्रह्म में पड़ जाएगा। बुद्धि स्वयंभवाभारिमका वृत्ति है—बह उसको संपर्प की निरंतर प्रेरणा से वे मफती है परन्तु मुक्त नहीं वे सकती। अहंकार का संस्कार करने के स्थान पर बह उस और भी उत्तमिठ करती है—अन्त में एक स्थिति ऐसी घा जाती है कि मन बुद्धि पर पूर्ण एकाधिकार करने के लिए सामायिन हो उठता है। यहाँ उसका पूर्ण परामभ होता है और एक प्रकार, की मानमिठ प्रसप हो जाती है।

इस परामभ के उपरांत मनु को बड़ी म्मानि होनी है। इतने में ही अज्ञा के साथ उनका फिर मयोग होता है। अज्ञा उन्हें म्मानि और अज्ञा का परित्याग कर फिर मे कमनीस होने के लिए उग्रहित करती है। इमी बीच में उसका साभ्रास्कार इडा से होता है। बह पहलु का धनि-बुद्धिवाणी होने के लिए इडा की मत्माना करती है—अन्त में उस अभा कर अपने पुत्र कुमार को उस मीप देती है और धाप मनु को माव सकर बन देती है। मनु और अज्ञा दोनों हिमामय के गिानरों पर अज्ञे-अज्ञे एक ऐसे स्थान पर पहुंचत है जहाँ मे बिदिक बिदय के तीन वृषक प्योनिपिड उन्हें पिनाई पड़ते हैं। अज्ञा मनु को इनका रहस्य समझानी है—'य तीन ग्यानिपिड माव-सोर, कम-माव और जान-माव है। इनके पार्षक्य व कारण मसार में बिहम्बना फँसी हुई है।' ऐसा कह-कहते अज्ञा की मुष्कान प्योनि देना बनकर इन तीनों साधों में वीड़ जाती है—तीनों सोक मिमवर एक हा जाते हैं और कम फिर मनु क मन के बसा और बिदय की साथी बिहम्बनाधों का अन्त हो जाता है। अज्ञायुत मनु पूर्ण पान-मीन हो जान है।

इसका प्रतीकाप इस प्रकार है—मुपचार और अज्ञिचार के धनिचार के फलस्वरूप मन का पूर्णतः परमूठ होना स्वाभाविक ही था। इतने मन को मर्षकर ग्मानि और निर्वैह होना है और बह फिर जीवन मे पनामन करना है। इस स्थिति से अज्ञा ही उसका निम्नार करती है। अज्ञा-मपुठ मन फिर उचित विद्या की धार बिवागनीस हाता है और एक ऐसी स्थिति में पहुंच जाता है जहाँ उसे धाममासात्कार हो जाता है। अज्ञा की प्रेरणा म उस अपने परामभ का रहस्य हाव हो जाता है। बह मनुभव करता है कि उसकी बिहम्बनाधों का एकमात्र रहस्य यह है कि उसकी तीनों मूम वृत्तियों में मावजस्य नहीं है। उसकी माव वृत्ति जान-वृत्ति और कर्म-वृत्ति (to feel, to know to will) तीनों हो एक-दुकरे मे वृषक रहकर बिवागनीस है। ज्यों ही अज्ञा क द्वारा इन तीनों का पूर्ण माव-रूप हो जाता है मन समरमना की धारम्या प्राण्य कर पूर्णमन्त्र म भीन हो जाता है। यह धान-मीन वीगी का धामानन्द है जो धाने भीनर धाममासात्कार द्वारा प्राण्य होता है मपुठ्य भवन का धान-मीन है जो बराबर में ध्याण्य प्रमु व धान्य कर प्राण्य होता है। अज्ञा द्वारा

अपने पुत्र कुमार का इका को सौंपना भी इसी सामंजस्य का प्रतीक है। मनु और शूद्र का आत्मब होने के कारण मानव जन्मत मननशीलता और शूद्रा से युक्त है। इका का निरीक्षण उसके बुद्धि-तत्त्व को भी परिपक्व कर मानवत्व को पूर्ण कर रहा है।

साधारणतः कथा का अन्त यही होना चाहिए था। परन्तु इस प्रकार इका कुमार और सारस्वत-प्रवेश-वाधियों की कहानी अचूरी ही रह जाती। अतएव उसके पर्यवसान-रूप में इका कुमार और सारस्वत-प्रवेश-वाधियों के भी मान-सरोवर जाने का बर्णन किया गया है। वहाँ वे साम-सत्ता से मद्धित रूपम का उत्सर्ग कर मनु से सामरस्य की शीक्षा भव हैं। इसमें सन्देह नहीं कि मूल कथा से इस प्रसंग का सहज सम्बन्ध नहीं है परन्तु संकेत अर्थ इसका भी सबका स्पष्ट है और वह यह है कि समष्टि-रूप में भी मानव-जीवन की परिणति मानव में ही है। सोम-सत्ता अर्थात् भोग और रूपम अर्थात् बर्म (कर्म) का उत्सर्ग कर समरस मानव चिरानन्द-मग्न हो जाता है।

इस प्रकार कामायनी निस्सन्देह ही बयक है। प्रसाव भी ने कथा के मूल तत्त्वों को ऐतिहासिक मानते हुए उनके आधार पर ऐतिहासिक महाकाव्य की रचना का उपक्रम किया था। किन्तु कथा का सांकेतिक रूप उनके मन में धारम्भ से अन्त तक वर्तमान था और मन के विकास का प्राचीन वैदिक रूपक उनको वैसे भी अत्यन्त प्रिय था।

परन्तु प्रसाव भी ने इसे सर्वथा प्राचीन रूप में ही ग्रहण नहीं किया। धातु-निक-देव-नाम का प्रभाव भी उसपर अत्यन्त व्यक्त है। मनु के जीवन की बिडम्बना धातुनिक जीवन की बिडम्बना है। इस बिडम्बना का मूल कारण यह है कि धातु इपारी माव-भूति अर्थात् संस्कृति जिसमें बर्म नैतिकता और कथा-साहित्य धारि धाते हैं। कर्म-भूति अर्थात् राजनीति जिसके अन्तर्गत धार्मिक व्यवस्था धादि भी समाविष्ट है। और ज्ञान-भूति अर्थात् वर्तन-विज्ञान तीनों एक-दूसरे में पूषक हैं। उनमें सामंजस्य न होने से जीवन धान्तरिक और बाह्य संघर्षों और विषमताओं से घातान्त है। व्यक्तिवादी मनु धातुनिक जीवन के व्यक्ति-परक भौतिक सुखवाद का प्रतीक है जिसका व्यक्त रूप पू-जीवाद में मिलता है। वह इका अर्थात् विज्ञान की सहायता से जीवन के सम्पूर्ण मुर्तों को अपने में केन्द्रित करने का अस्पष्ट प्रयत्न करता है। अन्त में वह अनुभव करता है कि शूद्रा के बिना जीवन की बिडम्बना का अन्त नहीं। यह शूद्रा अर्थात् सामाजिक भूति शोषी जी की अहिंसा और पारत्राय बार्गनिषों की मानव भावना की पर्याय है। धातु इनी मानव भावना की प्रेरणा से इच्छा ज्ञान बिना अथवा संस्कृति विज्ञान और राजनीति में सामंजस्य स्थापित हो सकता है। जब इन तीनों में पीछ मानव भावना की अद्भरणा रहेगी तो इनका समन्वय स्वतः

ही हो आया। घाज के पूजोबाद से पीड़ित समाज की विदम्बनाओं का समाधान यही मानववाद है जिसका नैतिक रूप समाजवाद और आध्यात्मिक रूप गांधीवाद है।

धार्मिक मनोविज्ञान-शास्त्र के आचार्यों ने भी घाज की विपत्तियों का यही समाधान बताया है। उनका विश्वास यह है कि इस युग का मानव अपने प्रकार के सामाजिक-ऐतिहासिक तथा व्यक्त-व्यक्त-कारणों से स्वरति की भावना में आक्रान्त है। स्वरति अर्थात् रोम है जिसके कारण उसका मानसिक स्वास्थ्य नष्ट हो गया है। मानसिक स्वास्थ्य मन की भाव-शक्ति कर्म-शक्ति और ज्ञान-शक्ति के समन्वय का नाम है। इसलिए मानसिक स्वास्थ्य के लिये हमें यह है कि ये तीनों शक्तियाँ पुनः दिशाओं में क्रियाएँ कर रही हैं। इस सामंजस्य को पुनः प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि रति भावना को स्वयं से निकालकर पर की ओर प्रेरित किया जाए। यह उन्मत्त प्रवृत्ति है। इसके पूरे हो जाने पर मन समरसता की अवस्था (Mental equilibrium) का प्राप्त कर लेता है। घाज के मानव-जीवन की समस्या का यही समाधान है।

एक प्रश्न और रह जाता है। यह रूपक कहा तक संयत है? तो जहाँ तक कि मूल कथा का सम्बन्ध है रूपक सामान्यतः संगत और स्पष्ट है उसमें कोई विषय-मैत्रीय भ्रमण नहीं है। हाँ कथा के मुख्य अक्षयों में भ्रमण पूरी तरह नहीं बँटती। जब मनु मानव-मन भ्रमण मनोमय काग में स्थित जीव का प्रतीक है तो उसके पुत्र कुमार को नव मानव का प्रतिनिधि मानकर भी संयति नहीं बँटती क्योंकि इस तरह पिता-पुत्र में भ्रमण एक ही प्रतीकार्य को पुनरावृत्ति हो जाती है। प्रसाध भी न इस भ्रमण का धनुष निया का इसलिए धान्य-भोज की मात्रा पर जाने से पुत्र अर्थात् कुमार को छोड़ जाती है। इसी प्रकार सारस्वत प्रेत-वागियों के साथ द्रुपद और कुमार का विराम-तीन मनु के साथ रूपक धान्य का उत्सव करने के लिए जाना भी भ्रमणार्थ में एक पक्ष ही है। इसकी संपूर्ण में दो कारण दिए जा सकते हैं। एक कारण तो यह है कि द्रुपद कथा को पूरी तरह भ्रमणार्थ में जकड़ देना ठीक नहीं है—आगर द्रुपद कथा को छोड़ा-जा तो स्वयं चरका देना ही चाहिए। दूसरा यह है कि कामायनी की कथा का विराम ही भ्रमणार्थों से भरा हुआ है। उगम ही कथा जोड़ सप हूँ। अतएव उपरोक्त भ्रमणार्थों का सम्बन्ध द्रुपद-कुमार कथा की भ्रमणार्थों में भी है। इसके अनिश्चित आचार्य सुकन में दो तात्त्विक भ्रमणार्थों की ओर संकेत किया है। एक तो यह कि जब द्रुपद की प्रेरणा में ही मनु कर्म-विराम करने हैं धर्म-अनुष्ठान ही कर्म-विराम का कारण है तो ज्ञान-साधन में द्रुपद कर्म-विराम का अन्तिम विराम प्रसार मन्त्र

हो सकता है ? दूसरे रति और काम की बुद्धि तथा मानव-कल्याण सहानुभूति भाव की समानार्थी होने के कारण भ्रष्टा की स्थिति भ्रष्ट भाव की स्थिति है— उसका अस्तित्व एकान्त भावात्मक है। ऐसी परिस्थिति में उसकी स्थिति भाव-लोक से ही नहीं बनने भाव कर्म ज्ञान तीनों से ही परे कैसे हो सकती है ? इनमें से पहली प्राप्ति तो अधिक सगत नहीं है। जैसे तो मानव-मन इतना अटिका है कि उसकी सभी वृत्तियाँ परस्पर अनुस्यूत और पुम्पित हैं, फिर भी वर्तन तथा मनो विज्ञान में इच्छा ज्ञान और क्रिया का भेद तो सर्वथा स्वीकृत है ही। भारतीय वर्तन में भक्ति ज्ञान और कर्म मार्ग का पृथक विवेचन प्रायः आरम्भ से ही होता आया है। इसलिए कर्म के पीछे बुद्धि की प्रेरणा होने का यह अभिप्राय नहीं है कि इन दोनों में कोई तत्त्वगत पार्वय ही नहीं है।

धर्या विषयक प्राप्ति अधिक सम्भीर है। साधारण दृष्टि से निस्सम्बन्ध ही भ्रष्टा एक भाव है और भाव ज्ञान और क्रिया के पृथक वर्णन के समय भाव से भिन्न उसका अस्तित्व वास्तव में समझ में नहीं आता। परन्तु प्रसाद जी ने कामावली की सम्पूर्ण कथा की बुरी भ्रष्टा को ही बनाया है। भ्रष्टा का अर्थ है अस्तिक बुद्धि (भावना) अस्तिक-बुद्धि इति भ्रष्टा। अस्तिकता का अर्थ है अस्तित्व में सहज आस्था इस प्रकार अस्तिक-भावना जीवन की एकान्त मूल पक्ष भावना है। इसीके द्वारा जीवन का संचालन होता है। प्रसाद जी ने इस इसी रूप में ग्रहण किया है। इसमें सन्देह नहीं कि प्रसाद की भ्रष्टा में राव-रत्न की अत्यन्त प्रबानता है परन्तु यह स्वामाधिक है। अस्तित्व में सहज आस्था स्वभावतः ही राव-प्रधान होनी चाहिए। जीवन के प्रति सहज आस्था निस्सम्बन्ध ही रावमयी होनी चाहिए। परन्तु फिर भी राव-रूप में भ्रष्टा कोरी भावुकता नहीं है। अस्तिक बुद्धि की पर्याय होने के कारण उसमें अस्तित्व की तीनों अभिव्यक्तियों इच्छा ज्ञान क्रिया का स्थिति है। प्रसाद जी ने भी भ्रष्टा को कोरी भावुकता के प्रतीक-रूप में चित्रित नहीं किया—बहुवास्तव में जीवन की प्रेरणा की प्रतीक है। इसके विपरीत भाव-लोक कोरी भावुकता—इच्छा की रगीन कीड़ाओं—का प्रतीक है और स्पष्ट रूपों में—भाव-लोक केवल इच्छा का प्रतीक है और भ्रष्टा जीवन के अस्तित्व में आस्था अर्थात् विस्वासयुक्त जीव नष्ट है।

जिते तुम समझ हा अमिराप,
जगत की ज्वालाओं का मूल,
इस का वह रहस्य बदाम,
कमी मत जानो इसके मूल।

× × ×

तप नहीं केवल जीवन सत्य
 करण यह क्षणिक दीन भयनाद,
 तरल आकांक्षा से है मरा
 सो रहा आशा का आहाद ।

× × ×
 एक सुम यह वित्तृत मू-नंद
 प्रकृति वैभव से मरा अमंद,
 कम का भाग, भाग का कम
 यही जड़ का चेतन आनन्द ।

पूर्व तथा पश्चिम के धर्म-शास्त्रों तथा दशनों में भी यज्ञ की यही स्थिति स्वीकार की गई है। धर्म धर्म काम योग सभी के लिए यज्ञ (कर्म) को आधारभूत ब्रुति के रूप में स्वीकार किया गया है। उमरु बिना योग (परमात्म) की प्राप्ति सम्भव नहीं है। मनोविद्वान्-शास्त्र के अनुसार यज्ञ की स्थिति ब्रह्म है जो पुण्य-प्रतिपात्ति जीवन चतना की जिसे कि उन्होंने जीवन की मूलभूत ब्रुति माना है। स्वभावतः ही वह राग-ब्रुति (सिद्धि) से अधिक व्यापक है।

इसके परिवर्तित पस्तु रचना की दृष्टि से भी यज्ञ की स्थिति का तीनों में स्वतन्त्र होना आवश्यक था। कामायनी की कथा का काय है त्रिपुर का लक्ष्मी करण जिसके उपरांत मनु को आनन्द-साक की प्राप्ति होगी है अर्थात् कथा बन्धु के उद्धार की प्राप्ति होगी है। इसी प्रकार अपस्तुत कथा का कार्य है राग-ब्रुति कर्म-ब्रुति और ज्ञान-ब्रुति का समन्वय। इसके उपरान्त ही मन समरमता की स्थिति प्राप्त कर चिरानन्द-सौख्य हो जाता है और कथा का उद्धार पूर्ण हो जाता है। भारत-कीर्ण की दृष्टि से यह काय मुख्य पात्र के द्वारा ही सम्पादन होना चाहिए और मुख्य पात्र उपरान्त कामायनी अर्थात् यज्ञ है। इस प्रकार मुख्य की भी इस दूसरी गम्भीर धारणा का भी निराकरण असम्भव नहीं है और इसमें सन्देह नहीं प्रमाण ही ने यज्ञ की मनोब्रुतिक स्थिति की इन भगवत-धर्म-धर्मों पर पूर्णतः विचार करने के उपरांत ही हमको यह कथ दिया था। मुख्य को द्वारा उद्धार गई तथा उनके मन के म उठी हो यह बात नहीं मानी जा सकती।

कामायनी का महाकाव्यत्व

ज्यों ही मैं कामायनी का मूल्यांकन करने के लिए प्रवृत्त होता हूँ मुझे सांख्यदृष्टि की यह प्रसिद्ध उक्ति घनायास ही याद आ जाती है—

‘महान् प्रतिभा निर्बोधता से बहुत दूर होती है। क्योंकि सर्वांगीण बुद्धता में अनिर्धार्यता क्षुब्धता की भावना रहनी है और प्रौढात्म्य में बुद्धन कुछ क्षिप्र घबराहट रह पात है। (काव्य में उपास तत्त्व पृष्ठ ६१)

कामायनी के धिया-विधान में निश्चय ही घनेक क्षिप्र रह गए हैं—उसका वास्तु-दृश्य अपनी पूर्णता को नहीं पहुँच सता उसकी आचारभूत प्रकल्पना में जो घबराहट है, उसका प्रतिफलन वास्तु-विन्यास में नहीं हो पाया—घनों की समन्विति कई जगह टूट गई है घमिष्यजना में घनेक त्रुटियाँ रह गई हैं जो व्याकरण और काव्य-शास्त्र की कसौटी पर खरी नहीं उतरतीं कुछ बिम्ब धपूरे रह गए हैं—घनकार छिन्न-भिन्न हो गए हैं ज्यों के पूरों की जाली में पंक्त के कामस स्पर्श की साज-संवार नहीं है कहानी में मैथिलीकरण गुण की प्रयत्न बना की मटन और प्रवाह नहीं है—आदि-आदि। उसक बोधों की घनपरा आज कुछ अधिक व्यपत्ता से की जा रही है। आलोचक उसक मौरव के प्रति जितना आश्चर्य हो रहा है धाव का सप्टा कलाकार उसकी अपूर्णता के प्रति जितना ही आश्चर्यहीन हो उठा है। इस प्रकार कामायनी आधुनिक हिन्दी साहित्य की सर्वाधिक विवादास्पद और विवादों के रहते हुए भी कथाचित् सबसे महान् उपलब्धि है।

कामायनी की रचना प्रसाद ने महाकाव्य के रूप में की है। आमुक्त में मनु-मंडा की कथा के ऐतिहासिक रूप को सिद्ध करने के लिए उन्होंने जो उल्लेख आग्रह व्यक्त किया है उसका मुख्य प्रयोजन यही है। पद्य: महाकाव्य के रूप में ही कामायनी का मूल्यांकन करना यदि के मौलिक उद्देश्य के अधिक निकट होगा। स्वदेश विन्दन के वाच्यगान्धर्व में निहित महाकाव्य के सदागों को गणना प्रस्तुत सदस्य में कथाचित् अधिक सार्थक न होगी। इसलिए मैं महाकाव्य के उम्मी

मूल तर्कों का सफर यमूना का दण्डान्त क्षयेन नहीं है त्रिनक बनाव म किमी भी देना क्षयका युग की कोई रचना महाकाव्य नहीं बन सकती और त्रिनके सङ्काव में परम्परारगत धार्मिक सभ्यता की बाधा हान पर भी किमी कृति का महाकाव्य के गौरव म शंभित नहीं निरा जा सकता । य मूल तत्त्व है—
 १ उदात्त कथानक, २ उदात्त काय कथका उद्देश्य ३ उदात्त चरित्र ४ उदात्त पात्र और ५ उदात्त भाषा । अर्थात् षोडशय ही महाकाव्य का प्राण है । किन्तु इस विषय में कोई भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए कि षोडशय और मापुय म किमी प्रकार का प्रकाश या प्रख्यान विराय है । इस भ्रान्ति का निराकरण करने के लिए मैं आधुनिक धारणाकर ए० सी० इटन के षोडशय-सङ्घो प्रसिद्ध मय की ओर इतिहास करूँगा कि त्रिनमें उद्देश्य उदात्त का मौल्यगाम्य का गद्य मान्य हूँ उद्ये ध्वनक अर्थ में मौल्य का ही एक रूप माना है । उनक अनुसार म्भुयन मुन्दर के पाँच भेद किए जा सकते हैं—उदात्त मध्य मधुर, मदारम और ममित । इनमें परा कान्ति है उदात्त और अररा कौटि है ममित । अथ मौल्यगाम्य की कृति म ममित और उदात्त में भी कोई विराय नहीं है—मधुर की म्पिति का उदात्त के ओर भी अधिक निराय है । धार्मिक ज्ञान म शिखर की कल्पना और धार्मिक काव्यगाम्य में धीरादत्त नयक की कल्पना उद्देश्य के मय का मंडन तथा म्भुयन विराय का मंडन करती है । शामायनी म महाकाव्यत्व का मूल्यांकन करने म पहुँच इस भ्रान्ति का निराकरण आवश्यक है ।

उदात्त कथानक

कथानक का अर्थ है घटनाओं का समन्वय । अथ उदात्त या महान् कथानक का अर्थ हुआ महान् घटनाओं का समन्वय । घटना की महत्ता का मापक है उग्रा प्रत्ये प्रभाव तथा दण्डान्त म विस्तार । इस प्रकार महाकाव्य के कथानक का निर्माण ऐसी घटनाओं से होता है त्रिनका प्रभाव प्रखन एवं म्वापी हो और अथ तथा काय दानों म त्रिनका विस्तार हो । इसका माय हो उदात्त कथानक के लिए यह भी आवश्यक है कि उनका स्वयं प्रत्ये कथका अर्थ म अर्थमन्वय न करे रचनात्मक हो—उनकी परिगति शुभ और अययययी हो । इस कृति म शिखर करने पर यह सिद्ध करना पड़ित नहीं है कि शामायनी की घटनाएँ अत्यन्त उदात्त एक महान् हैं । किन्तु, उनका क्षेत्र अत्यन्त नर है सिद्ध है—मानव-मानव का मानव क्षेत्र है । परम्परारगत महाकाव्यों की अत्यन्त घटनाओं—तुल्य कान्ति—का भावि उनका विस्तार मितिक अर्थ में मित नहीं हो—उनका विस्तार होता है मानव-क्षेत्र के भीतर अथे पड़ित होकर के समस्त मानव-जीवन पर अर्थ और म्वापी प्रभाव डालता है । शामायनी की प्रमुख घटनाएँ हैं म्वाययुर्ग अहकार का पराम

पुरुष और नारी का प्रथम मिलन मारी का सर्वस्व-समर्पण पुरुष और नारी के प्रणयपूर्ण संसर्ग से ससृति-विकास पुरुष की प्रभावित अधिकार भावना—उसके लिए बुद्धि-बल से मौलिक संघर्ष और अधिकार-क्षेत्र का प्रसार, प्रतिष्ठा एवं कृत्रिम बुद्धि पर पूर्ण अधिकार करने का उद्देश्य प्रयत्न और उसके परिणामस्वरूप मानव चेतना की पूर्ण विफलता इस विफलता के मूल कारण की प्रकृति और अंत में सामरस्य तथा उसके फलस्वरूप पूर्णानन्द की सिद्धि। मानव के अधिमानसिक जीवन में इन सभी घटनाओं का महत्त्व अत्युच्च है। विश्व में होने वाली प्रथम घटनाएं नाश और निर्मास के समस्त दृश्य मौलिक संघर्ष और विकास के विभिन्न रूप इन्हीं घटनाओं के प्रतिबिम्ब हैं। प्रकृतेतन मनोजगत् के उद्घाटन और तत्संबंधी अनुसंधानों से यह स्पष्ट हो गया है कि मौलिक जगत् का विराट घटनात्मक मानव चेतना के अंतर्गत बहुरंगों में होने वाले घटनात्मक रूप की धारणा है। कामायनी के कवि ने इस रहस्य को समझा है और वर्तमान युग की वैज्ञानिक उपसम्पत्तियों का उपयोग करते हुए अपने महाकाव्य में इसका प्रतिफलन किया है। कहने का अर्थ यह है कि कामायनी की घटनाओं में निरूपण ही महाकाव्योचित प्रकृतता और धारणा है किन्तु यह प्रकृतता और धारणा अधिमौलिक अर्थात् बाह्य एवं ऐहिक नहीं है—चेतना मत्त तथा आध्यात्मिक है।

उपर्युक्त स्थापना का अर्थ यह नहीं होना चाहिए कि कामायनी की घटनाओं में मौलिक जगत् की संपन्नता का सर्वत्र अभाव है। जहाँ कथा का विकास मूल जगत् की पृष्ठभूमि में होता है वहाँ परम्परागत महाकाव्य की घटनाओं की सन्नता एवं विस्तार भी यथावत् विद्यमान है—उदाहरण के लिए धारमिक सर्ग में देवदग्ध और प्रलय के वर्तुण अथवा संघर्ष सर्ग से सारस्वत नगर के वैभव के बीच प्रजा के साथ मनु के द्वन्द्व का चित्रण प्रस्तुत किया जा सकता है। फिर भी कामायनी के कथानक की गरिमा इन प्रसंगों में उठनी नहीं है जितनी कि मनु (मानव) के अहंकार के विस्तार में अथवा बुद्धि पर पूर्ण अधिकार करने के लिए मानव-चेतना के निर्वाण प्रयास में अथवा धारमा की तीन प्रवृत्तियों के प्रतीक अभिव्यक्ति के अर्थन से मानव चेतना द्वारा सामरस्य की सिद्धि में। बाह्य दृष्टि से देखने पर ये घटनाएं अपनी अमूर्तता के कारण अनाकर्षक प्रतीत होती हैं किन्तु वर्तमान युग में जिस प्रकार मानव चेतना बुद्धि पर अथवा अधिकार प्राप्त करने का दुर्बल प्रयास कर रही है उसे देखते हुए इससे प्रकृततर घटना की कल्पना करना संभव नहीं है।

सामाजिक रूप से विचार करने पर भी कामायनी के कथानक में अपूर्ण धारणा है। वह केवल एक महापुरुष की जीवन-गाथा नहीं है एक राजवंश का वृत्तवर्णन-आद्य नहीं है एक युग या राज्य की कथा नहीं है। वह तो संपूर्ण

मानवता के विकास की पाया है—अथ स इति तक। अन्य महाकाव्य जहाँ मानव मम्यता के लक्ष-चित्र प्रस्तुत कर रहे जाते हैं वहाँ कामायनीकार ने उमका ममय चित्र प्रस्तुत करने का माहसुपुण्य प्रयास किया है। यह प्रयास पूरा नहीं हुआ किन्तु इसका परिधि-विस्तार इतना अधिक है कि अपनी अपूर्णता में भी यह अद्भुत है—अमामान्य है।

उदात्त काय

कामायनी का काय है सावकृति वमकृति तथा ज्ञानकृति के सामञ्जस्य द्वारा समरमता और उसके फलस्वरूप आनन्द का सिद्धि। वकि न इस कार्य की सिद्धि के लिए विनायक के शनीक की उद्भाषना कर अत्यन्त बोधनपूषक उम दिगन्त-विस्तार प्रदान कर दिया है। आध्यात्मिक जीवन की मखम बढ़ी दुर्बलता है इच्छा जिया और ज्ञान की किरूणमता। मानव कृता क इतिहास में अब-अब इन तीनों में समामंजस्य हुआ है जीवन विकास अचण्ड हो गया है— संसार में अराजकता और अज्ञानि फैल गई है। धार क भौतिक जीवन का भी मखम बढ़ा अभिभाव यह है कि हमारे अम और मन्कृति की शिगा एक है राजनीति की दूसरी और विज्ञान की तीसरी—अमण भाव शिगा और ज्ञान क य प्रतिकर एक-दूगरे में अमकण्ड हैं। इसका परिणाम है वर्तमान अज्ञानि— या साम्प्रतिक सुख अथवा शीत-सुख आदि क रूप म अकण्ड हा रही है। इस भीमक समस्या का समाधान है मानवता क प्रति अट्ट अडा रणन हुए जीवन की इन जनों प्रकृतियों में ऐकात्म्य म्यापित करना। अजाती मानव-अन्त्याग का मखम बनाकर हमारी संकृति हमारी राजनीति और हमारा विज्ञान एकात्मित हो जायेंगे तुरंत ही हम पुन की शिपम समस्या का समाधान हा जाएगा। इस प्रकार कामायनी म वर्तमान क आचार-अचर पर अमाद क मानव-जीवन की उम मूल समस्या का शिरंजन समाधान प्रस्तुत किया है जो सामयिक हाजर भी एावत है। सामयिक तथा सावकामिक और एकरेणय तथा लक्ष्मीय का यह एकीकरण महाकाव्य का अ्यान मक्षण है और इस लक्षण का निर्वाह शिम अमय रूप म कामायनी के अन्ततत हुआ है बना अन्त्यत्र मता। इस प्रकार कामायनी का काय सर्वथा अजात है। ऐसी शरिमा और एमा शिपदू आयाप और शिम महाकाव्य के काय में है ?

उदात्त मान

कामायनी का मूलवर्ती भाव अथवा महाभाव जो शिमे आध्यात्मिक की लक्ष्मीय में अंगीरम कहा गया है अने प्रतिपाद के अनुसर ही है। अमा अन्त उमय विधिन्त रती का परिणत है अडा मनु के प्रकणे में मयेक विमोदमय शृंगर अडा और कुमार के अमय के आत्मस्य अमय क अरुंन में

मयामक बेबताओं के धनधान म करण संघर्ष तथा रुद्रकोप में वीर एवं रीढ़ शिवताम्य के वर्णन और 'रुद्रस्य' सर्ग में प्रसूत का प्रसार, पशु की हत्या में वीरस्य धारम तथा मध्य में निर्वैभूतक शान्त वीर शान्त म आनंदपूर्ण सामरस्य में भी शान्त रस का भव्य विकास है। परन्तु इनमें से किसी भी एक को धीरों का तो प्रदत्त ही नहीं—नाम्यशास्त्रीय धर्म म शान्त या शृंगार को भी कामायनी का महारस मानना कठिन है। उसके पूर्वार्द्ध में शृंगार का प्राधान्य है तथा उत्तरार्द्ध में शान्त का। धीर, इन दोनों रसों का ही इतना प्रथम परिपाक हुआ है कि किसी एक का प्रवीरस मानना कठिन है—बलुन प्रसाद न ऐसा किया भी नहीं है। सीमित काम्यशास्त्रीय धर्म में प्रसाद ने न शृंगार को धीर न शान्त को कामायनी का धर्गीरस बनाया है। जिस प्रकार कामायनी का कथानक जीवन को प्रकृतता में ग्रहण करता है धीर जिस प्रकार कामायनी का प्रतिपाद्य जीवन की एकामी सिद्धि न होकर सर्वांगीण सिद्धि ही है इसी प्रकार कामायनी का धर्भारस भी एकांगी शान्त या शृंगार नहीं है बरन् प्रसन्न शान्त रस है। इसीको महारस या आनंद रस कहा गया है। अतिसक ने इस ही मौलिक धर्म में शान्त और भोज ने शृंगार की संज्ञा प्रदान की है। स्वयं प्रसाद के धर्मों म भी यही मौलिक रस है जो सामान्य धर्म म रस की दोनों सीमाओं—शृंगार तथा शान्त—का स्पर्श करता है धीर जो निस्तरंग महोदधिकृत्य सामरस्य का पर्याय है।

दीवानम के आनंद सम्प्रदाय के अनुयायी रसवादी रस की दोनों सीमाओं शृंगार और शान्त को स्पष्ट करते हैं। यह सांतरण निस्तरंग महोदधिकृत्य समरमता ही है।

उदात्त चरित्र

भारतीय काम्यशास्त्र के अनुसार महाकाव्य का नायक धीरोदात्त होना चाहिए और धीरोदात्त व सशक्त है महासत्त्व धर्तिर्गभीर शमावान् ध्वि कल्पन स्पष्ट, निगूढ घट्टकारवान् और इङ्गन। इन सत्त्वों के आधार पर स्पष्टतः मनु धीरोदात्त नायक सिद्ध नहीं होत। धीरोदात्त नायक के व्यक्तित्व का निर्माण जहां मानव-मध्यता की ध्यपना विकसित स्थिति में ही संभव है वहां मनु का व्यक्तित्व-विकास मानव-चेतना के विकास का प्रतीक है। मना-बिज्ञान तथा बिज्ञानवाद (जिनको प्रसाद ने आधार रूप में ग्रहण किया है)—दोनों के ही अनुसार धार्मिक गुरुप मनु का चरित्र पूर्ण विकसित रूप में धर्कित नहीं किया जा सकता था। महत् मानव चेतना का प्रतीक इन्हे के गठे मनु का चरित्र विरामणीय है दीवदर्शन की लक्ष्यवर्ती में वह पाणव या धागव स्थिति से धारम हाकर धागव स्थिति को प्राप्त करता है। नायक के चरित्र

उपवृत्त कारणों से यदि उसे मूर्तरूप नहीं दे सका ।

भद्रा का चरित्र अत्यन्त उज्ज्वल है । सात्विक गुणों से पूर्ण विश्वर्षगम साधना की प्रतीक भद्रा का व्यक्तित्व विकास को अपेक्षा नहीं करता क्योंकि स्पष्ट भद्रा मनु की भाँति धनमत्र मानव-चेतना का उसके समग्र रूप में प्रतिनिधित्व नहीं करती । मनु के व्यक्तित्व में जहाँ मानव-चेतना की हीनतर और उच्चतर दोनों ही प्रवृत्तियों का मिश्रण अनिवार्य था वहाँ भद्रा केवल उच्चतर प्रवृत्तियों अर्थात् दया भाषा ममता मधुरिमा और विदबास प्रादि ऐसी प्रवृत्तियों का ही प्रतिनिधित्व करती है जो मानव-चेतना को पूर्णतः— दार्शनिक दृष्टावली में पूर्ण शिबल प्राप्त करने में सहायता देती है । इस प्रकार भद्रा के चरित्रांकन में वह भाषा नहीं रही जो मनु के प्रसंग में भी अथ उसमें परम्परागत महाकाव्योचित धीमन्वस्व एव गरिमा का भी अद्भुत समावेश हो गया है । यही दृढ़ता के विषय में भी सत्य है । उसके व्यक्तित्व में भी बाँधित ऐश्वर्य एवं गरिमा है । किन्तु भद्रा और दृढ़ता अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए सांस्कृतिक धर्म का चोटन भी करती है । स्वभावतः उनकी प्रतीकता के कारण आर्थिक रूपरेखा में बँगे हदता और मूर्त सज्जता नहीं प्राप्त करती जैसी कि पादचार्य महाकाव्यों के चरित्रों में मिलती है ।

उदात्त शैली

कामायनी की शैली सर्वत्र ही एक अपूर्व लक्ष्मीतरस्तर पर अवस्थित रहती है । उसमें शुद्धता का एकात्म समावेश है । प्रयत्न करने पर सम्पूर्ण काव्य में एकात्म अर्थवाद ही मिलता । पादचार्य भाषाओं में महाकाव्य की शैली का प्रमाण सुगुण माना है असाधारणता । कामायनी की शैली में इन गुण का प्राचुर्य प्रायः दोष की सीमा तक पहुँच गया है । यहाँ सामान्य प्रसंगों में भी शैली का स्तर प्रायः असाधारण ही रहता है और जहाँ कहीं कवि सामान्य अर्थपर पर उतरने का प्रयत्न करता है वही शैली का स्वरूप बिगड़ हो जाता है । फलतः उसमें अद्भुत ऐश्वर्य एवं अर्थकार-विज्ञान है साराणा-संज्ञता का विचित्र अमलकार है । कल्पना तथा भावना के अपूर्व बीज के कारण इन शैली में मूर्तिविधान और विम्बयोजना की अद्भुत समृद्धि मिलती है । कामायनी की भाषा सर्वत्र ही चित्रभाषा एवं प्रतीकभाषा है जिसमें तरंग तथा सञ्चित अर्थवर्ष दृष्टावली का मुक्त प्रयोग हुआ है । भाषा और अभिव्यञ्जना के इन असाधारण गुणों के फलस्वरूप कामायनी की शैली सामान्य में सबका मित्र हो गई है ।

शैली की असाधारणता का प्रति आधार के कारण ही कामायनी की शैली में इतिवृत्तचरण का एकात्म समावेश है । कवि ने अत्यन्त सौष्ठव रूप में मनन चिन्तन सञ्चार, स्वगत स्वप्न हृदय-विधान प्रादि के द्वारा कथा का विकास

किया है। इतिवृत्त शैली के प्रति प्रसाद के मन में एक विशिष्ट वितुष्णा रही है। कामायनी में कथा का स्तर कल्पना-विज्ञान दास्यनिक गरिमा और रागात्मक ऐश्वर्य के कारण सामान्य से इतना भिन्न रहा है कि वृत्त-वर्णन की अपेक्षा इस समृद्धि का बहान नहीं कर सकती थी।

भारतीय काव्यशास्त्र में व्यंजना से महाकाव्य को घसी को मानाबल्य समझा जाता गया है। कामायनी को शैली में यह गुण स्पष्टतः विद्यमान है। वह सूक्ष्म से सूक्ष्म और उदात्त से उदात्त मन-स्थिति का प्रकट करने में पूर्णतः समर्थ है। सुन्दर और विराट् मधुर और भयानक आदि के वर्णन में उसकी समान गति है। इसके प्रतिरिक्त महाकाव्य की शैली के लिए यह भी अपेक्षित है कि वह विस्तारगर्भी हो। मूल, सबन एवं प्रथम हो उसमें दुर्लभ नद प्रवाह हो। य गुण वास्तव में ऐहिक कथा प्रधान महाकाव्यों की शैली में मिसते हैं। कामायनी में भी जहाँ भौतिक घटनाओं की प्रधानता है इन गुणों का सम्पूर्ण प्रयोग है जैसे प्रलय-काल संघर्ष आदि में मनु के अहंकार आदि की अस्मिन्जना में आज मुग्ध का भी उचित समावेश है। किन्तु घसी के अपिवादा अनेक से घनता आदि गुणों का निर्वाह संभव नहीं हुआ। क्योंकि कथात्मक घनता ही बहिर्मुख नहीं है इसलिए मूल घटनाओं और हृदयों के सकृल वर्णन में शैली में जो एक प्रकार का सहज मनस्व एक नद प्रवाह उत्पन्न हो जाता है वह यहाँ नहीं मिल सकता। इसी अल्पमूलता के कारण कामायनी की घसी में प्रयोज्य तत्त्व स्थान स्थान पर उभर आता है। सामान्यतः वह महाकाव्य का दोष है किन्तु यहाँ तो विद्या ही अन्तर्गम है और घटनाओं की विद्याम भूमि मानव चेतना है इसलिए प्रयोज्य तत्त्व यहाँ बाधक न होकर साधक ही हुआ है।

समग्रतः कामायनी की शैली निरद्वय ही भव्य है। कवि की प्रतिभा ने एक विराट् शून्य को कल्पना और भावना के ऐश्वर्य में अग्रगण्य कर दिया है।

निष्पत्ति

कामायनी का महाकाव्यत्व अस्मिन्दिग्ध है—परम्परा का निगमन निर्वाह प्रसाद के स्वभाव के विपर्यय या। परत कामायनी में भारतीय और पाश्चात्य काव्य शास्त्र—दोनों में से किसी एक के भी मन्तव्यों का पूर्ण निर्वाह गौरवना व्यर्थ होगा। फिर भी महाकाव्य के प्रायः सभी महत्त्व कामायनी में स्पष्टतः विद्यमान हैं।—वे एक ही विपर्यय है वह है कार्य-व्यापार का अभाव त्रिमूर्ति परिणाम उत्पन्न कथा में बाधित भौतिक विस्तार नहीं था मरत। कदाचि कामायनी का कल्प-विद्याम बहिर्मुख न होकर अन्तर्मुख है। वह मानव चेतना के विद्याम की कथा है जो मनु के जीवन-निर्वाण के माध्यम में नहीं गई है। साधारणीकरण के लिए मरत कवि ने कथा की भावमय पद्धति पढ़ाने की है। त्रिमूर्ति द्वारा मनु

मानव चेतना के प्रतिनिधि बन जाते हैं। इस प्रकार परम्परागत महाकाव्य— ऐहिक जीवन प्रधान महाकाव्य की कौटि में कामायनी नहीं आती। वह ऐहिक जीवन का महाकाव्य नहीं है। मानव चेतना का महाकाव्य है—एक रूपक-तत्त्व को सामान्यतः महाकाव्य में बाधक होता है। यहाँ साधक बनकर आया है। इसीलिए प्रगीत तत्त्व भी यहाँ बाधक न होकर साधक ही हुआ है। मानव चेतना के विकास का यह महाकाव्य अथवा मानव-सम्पत्ता के विकास का यह विरह रूपक साहित्य के इतिहास में एक नवीन प्रयोग है—एक अप्सुत उपसम्बन्ध है। इसी रूप में यह परम्परा से भिन्न है—रूपक और महाकाव्य के समन्वय के कारण—कथा के अन्तर्मुख विकास के कारण।

मेरा व्यवसाय और साहित्य-सृजन

मुझ जैसे सख्त का जिसने राजकीय सेवा के घने प्रसोभनों को छोड़ साग्रह अप्यापनीय कृति ग्रहण की है इस त्रिपय में हृष्टिबोग्य सर्वथा स्पष्ट है। भाव से तमग साठ वर्ष पूर्व आकाशवाणी में नियुक्ति के समय उज्ज्वल भविष्य का आकषण होते हुए भी मरुत मन एक विचित्र घका से उद्विग्न हो उठा था साहित्यिक काय वहाँ कैसे मिलेगा ? एम० ए पास करने के उपरांत प्रपरी प्रतिबन्धन शक्ति के प्रमुसार सीमित परिधि के भीतर जिन साहित्य की साधना मैं इतने मनोयोग तथा धष्यवसाय क साध कर रहा था—जिसने तमव राष्ट्र भाषा की सेवा चाहे हुई हो या न हुई हो पर धारम-वस्थाण प्रबन्धन हुआ था—उमरा मोह मुझे धार्मिक प्रसोभनों की अपेक्षा कम नहीं था। परन्तु जिन युग-वाहक अधिवारी ने साग्रहपूर्वक मेरी सभी शक्तों को क्रमशः स्वीकार करते हुए मुझे धाने हुआ भाव न लाचार कर दिया था उन्होंने मुझे यह धारवाचन भी दिया कि यहाँ तुम्हारी साहित्य-साधना न कोई भाषा न पड़ेगी मैं तो इसको प्रोत्साहित करता हूँ। इस धारवाचन का प्रबन्धन मकर मैं राजकीय सेवा में प्रविष्ट हुआ। आकाशवाणी का वातावरण धार्मिक धनमुक्त नहीं था। मुझ का काम मीठा मया वह अधसाहित्यिक नहीं था वह भी राष्ट्रीय महत्त्व का रचनात्मक कार्य था। परन्तु रचनात्मक साहित्य और सृजनारमक साहित्य में अंतर है—रचना धपवा निर्माण एक योजना-बद्ध बुद्धि-गम्मत प्रक्रिया है जिसने पीछे बहिर्मुखी कृति की प्रेरणा रखी है सृजन धारम-साक्षात्कार के शक्तों की धनिबाध प्रक्रिया है जिसमें कृति धनमुगी हा जाती है। निर्माण का मध्य है वस्थाण सृजन का मध्य है धानन्द। धाप इमे दोष मानिण या गुण मेरी अंतर्भूगी प्रकृति धानन्द न बढ़पर धारम-वस्थाण धपवा मोह-वस्थाण की वस्थाना करने में धगमर्ष है। मैं धाने तय जीवन-धम न राष्ट्र-मेवा धपवा मोह-मेवा के मध्यनुष्णन मे कुल समय बचाकर मैंने वैदिक मन्त्रय क माय साहित्य-साधना धारम कर दो भी धीर गरस्वती सर्वथा मूक नहा हुई थी फिर भी मुझे ऐसा

प्रतीत होने लगा कि बपुजी विप्लव में मेरी संतुष्टियाँ कसती जा रही हैं और बीच पर पड़ा हुआ जीवन ठेसी का बैस बनता जा रहा है। तत्कालीन से मेरा वास्तविक वा रेडियो की भाषा का निर्माण—यह काम अपने आप में बहुत बड़ा था और मैं पहले सो-तीन वर्षों तक अपनी सम्पूर्ण शक्ति तथा शैक्षिक साधनों के साथ उर्दू-लिखित हिन्दुस्तानी को हिन्दी-रूप देने में जुटा रहा। यह भी एक विशिष्ट अनुभव था उसकी अनेक स्मृतियाँ मेरे मन में आज गुरुगुरु उत्पन्न कर देती हैं रेडियो की भाषा का वह ब्रह्म-मूल सर्वाधिक सुबोधता (Maximum Intelligibility) जिसमें शब्द की अभिधा-शक्ति निःशेष हो चुकी थी—और कुछ व्यंजना मात्र रह गई थी सभी अपने मतानुकूल जिसका प्रयत्न कर सकते थे उस समय मेरे लिए इष्टतम से भी अधिक था। कुछ समय तक इसकी उत्तेजना रही परन्तु धीरे-धीरे वह भी समाप्त हो गई, और शेष रह गया अनुवाद-कार्य का निरीक्षण। यह अनुवाद लम्बे-लम्बे होकर मेरे सामने आता था। मंचिमंडल के सहाय्य और विशेषकर प्रचारमन्त्री धारि के राजनीतिक भाषणादि होने पर समाचार-कक्ष में एक प्रयत्न हमसब क्या भयदङ्गी मच जाती थी बेवताओं को भी आकाशवाणी के स्वर्ग-लण्ड से उतरकर रेडियो के पाताम-खण्ड में घाना पड़ता था। उस समय कामी पंक्तियों से संक्षिप्त संक्षेप कामच की ये शब्दों के सुसं-वेष्टित सर्पों के समान फुंकारने लगती थीं। इसके बाद मैं सोचता—यादगिर इस स्नायवी उत्तेजना से क्या साम ? मैंने काव्य-शास्त्र में पढ़ा था कि सामना-रूप स्वावी माद की शरम उत्तेजना ही रह है। परन्तु आप विश्वास कीजिए यह उत्तेजना रम नहीं थी—भरत ये सकर धारार्थ रामचन्द्र दुस्स तक इसका उल्लेख नहीं मही था। उल्लेख को कभी-कभी हम शीघ्र-रूप से सपन भी आते थे—और अत्यन्त सुख्य होकर मैं देखता कि महाजन के अनुवाद तो ठीक किया जा पर 'स्नेह-बाई' से कम मक्या लगाने में मूल हो गई और बेवशीतन्त्र पाठे की स्वीत आकाश मे उस महत्त्वपूर्ण बतन्त्र का बह छोटा-सा टुकड़ा तिनके के समान बैस ही बहना चला गया। मुस्बिर होकर मैं रसयती भूमिका की उमपर प्रत्यस स्थिति का ध्यान करता जहाँ बसु सम्बन्ध और सम्बन्धी का ज्ञान गप्ट हो जाता है और सोचता कि भूमा में यह बाड़ा-मा संख्या-व्यतिरम क्या अर्थ रखता है ? मेरा दूधय बर्तन्य-कम या संशेरी के पारिवायिक घण्टों के हिन्दी पर्याय बनाना। एक दिन 'शैक्षिक आइस' बचक में आ गया। एक बुबुस के भाग मना करने पर भी बड़ा खोर लगाकर उमका भी अनुवाद कर दामा 'मोटा गमिज ऐल'। बाद में जिनो न बहू कि यह ऐल न मोगा होता है और न गमिज। चित्त को बड़ी म्मानि हुई और प्रनाद जी के आणवय के ये शब्द मेरी संतुष्टिमा में बूबने सब 'मै बाण्य हूँ—घानन्द-मनूह में गानि-दीप का अधिचामी बाण्य—अप्य

मूय नराज मेरे दीप से घनन्त प्राकाश विमान या तस्य-व्यामसा कौममा विरवम्मरा मेरी दीया थी। बौद्धिक विनोद कर्म या सन्तोष घन वा। उस धरती बाह्यग की जन्म भूमि को छोड़कर कहीं था गया। मैंने मकल किया भगवान की हुजा से अनुभूत प्रवसर प्राप्त हुआ प्राकाशवाणी के प्रनेक प्रधि कारियों ने निरक्षण मन मे घाघह किया कुछ बड़े प्रसोमन भी सामने आए, बाहर भी हित्विपियों मे इस भावुकता के विरय शेषावनी दी किन्तु मैंने एक बार जा रम्भा तुझाया ठो पीछे मुड़कर मही बला और सीधे विरवविद्यालय में घाकर मांस सी।

विरवविद्यालय के मुक्त बाठावरण में घाकर मेरा मन स्वस्थ हो गया। पहला भाषण 'साहित्य की परिभाषा और स्वतंत्र और वृष्टत 'कामायनी' पर हुआ। मुझे लगा कि मयवती सरस्वती की प्रेरणा मे एक दिन ही में जैसे 'मोटे कनिज ठेक' और 'रामायनिक लार्ड' की उस दुनिया से कामायनी के इस धनन्त-सोठ' में घा गया हूँ धनन्तवर्षन कुन्तक घुनन और प्रमाद की स्वधिक प्रतिभाओं ने प्राणोर्वाचमयो प्रेरणा की प्रमाणा छात्र-धनायो की विनम्र विज्ञाना मे अभिनन्दन किया मेरे मन पर सगी हुई दफ्तरी भागीन की वह कामाच घपने घाप ही वह गई।

व्यवसाय और साहित्य-सृजन का परस्पर क्या सम्बन्ध है पहले थोड़ा विचार इस सम्बन्ध में कर लेना अप्रार्थनिक न होगा। मध्य-युग में उठी मधी गताधी के मध्य तक यह प्रस्त ही प्रायः लही उठता था। कवि का केवल एक व्यवसाय वा वाच्य रचना उमोह हाउ द्विती राजा या धीमन्त का भाषय पातर वृत्ति की समस्या हम हा जाती थी। व्यवसाय की दृष्टि से कवियों के रीति-राम में या मुख्य बग मिलते हैं—राजा-कवि और राजाधिन कवि। पर्यान् कविता या तो राजा कर सकता था या ऐसा व्यक्ति कर सकता था जिमकी प्रात्रीविका का वाचिक निमी राजा ने स लिया हा। कहन का तात्पर यह है कि मध्य-युग के हिन्दी-साहित्यकार का व्यवसाय और साहित्य-कर्म वृद्धक लही थे—साहित्यकार जो कवि ही हाउा था या हा मन या भक या या धीमन्त या या राजाधिन। इस प्रकार साहित्य या वाच्य-सृजन के घट्टिरिता उगवा धन्य कोई व्यवसाय लही था। प्रापुनिक युग में साहित्य के हाउा रीविता की मिदि प्राय सम्भव न हो सरी बहूत ही कम वास्तविक साहित्यकार ऐव मौभाग्य घानी हुए हैं घन उन् रीविता के निग रिता व्यवसाय वा भाषय लेना पड़ा। इस देव में धर्य-स्वरका भी बड़े धनधन-की रती है घाण्ड साहित्यकार को बड़े विविध-विविध व्यवसायों की पारण लेनी पडी है मिनेमा की मोरती मेदिया की मोरती तक ता गीक है परन्तु उम बेचारे को राजनीतिक उगार गार बरान्त रिक्रारी कर्तरी मृषो की हुनन घादि न जाने क्या-का

करना पड़ा। किन्तु इन व्यवसायों का भी साहित्य-सृजन से अप्रत्यक्ष सम्बन्ध है। साहित्य इनकी शरण-भूमि है जहाँ भाकर ये साहित्यकार अपने व्यवसाय की क्लान्ति मिटाते हैं। विज्ञान साक्षी है कि आवात्मक प्रभाव समावात्मक प्रभाव से कम प्रबल नहीं होता अतएव इनकी भी सृजन-प्रेरणा किसी प्रकार कम बलवती नहीं है।

येच व्यवसाय इस दृष्टि से अधिक सीमाव्यवहारी है। अध्यापन का विशेषकर उच्च स्तर के अध्यापन का साहित्य के अन्य वर्गों के सृजन से सहज सम्बन्ध न हो परन्तु आलोचना से उसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। जैसे अध्यापक का व्यवसाय साहित्य के प्रायः सभी वर्गों के सृजन के अनुकूल पड़ सकता है क्योंकि उसमें सभी प्रकार की अनुकूल परिस्थितियाँ विद्यमान हैं। अंतिमम वातावरण अनावश्यक उपर्य तथा स्नायवी उत्तमता का अभाव महान प्रतिभाओं के उच्च आध्यात्मिक समर्पक कम से कम बाधों द्वारा आरम्भभित्ति—ये सभी परिस्थितियाँ सृजन के लिए अनुकूल हैं। फिर भी कुछ साहित्य-रूप ऐसे हैं जो कदाचित् अधिक अनुभव-विस्तार तथा गहरे जीवन-संबन्ध की अपेक्षा करते हैं—उदाहरण के लिए उपन्यास या नाटक के लिए अध्यापक-जीवन की छाति और सीमित प्रतिबन्ध अधिक उपयोगी नहीं है और इसका एक स्थूल प्रमाण यह है कि देश-विदेश का कोई विद्वान् ही उपन्यासकार अध्यापक रहा हो। किन्तु आलोचना के विषय में यह संका नहीं हो सकती—आलोचना और अध्यापन का अन्वय-अपसरक सम्बन्ध है उच्च स्तर के अध्यापन से तो आलोचना का पोषण होता है। और इसका भी एक प्रमाण यह है कि देश-विदेश के अविनाश आलोचक अध्यापक हैं रहे हैं या बन गए हैं। यह स्वाभाविक भी है। आलोचक के मूलतः कर्तव्य कर्म हैं (१) उस ग्रन्थ करना (२) गृहीत उस को अपने व्याख्यान-विश्लेषण के द्वारा सभी सहस्रों के लिए सुलभ करना या उमर महामया देना (३) इसके धामे सत्-अमत् का निरण कर विज्ञान-समाज का माग-व्यवहार करना और अंत में (४) साहित्य की गतिविधि का अप्रत्यक्ष रूप में नियन्त्रण तथा संचालन करना। इनमें से पहले दो अधिक सहज एवं मूलगत हैं क्योंकि काव्य का पूर्ण आस्वादन तो प्राथमिक आवश्यकता है और वह अपने आप में निश्चि भी है। यदि प्रमाता उठने ही पर एक तब भी उसे सफल-नाम धान नना चाहिए रमास्वादन धयवा मवेच अनुकूलि का समग्र ग्रहण काव्य की सबसे सफल आलोचना है तथा प्रमाता बिना कुछ निग भी काव्य का मूल आलोचक होता है। सत्-आलोचना का पहला मोगान यही मूल आलोचना है। अध्यापक के लिए यह महज मुलभ है श्रेष्ठ काव्यों का अध्ययन—महान प्रतिभाओं के माय माननिक साहचर्य उमता वैदिक कर्म है। अथ व्यवसाय के गति-व्यवहार को जहाँ इसके लिए भी समय निराकना पड़ेगा वहाँ अध्यापक का तो व्यवसाय ही

यही है। दूसरा सोपान है इस घास्वान को सहृदयता के लिए सुजन करना। घण्टापक कृति घास्वाता और विवेक हाता है ऊंची श्रेणी व विद्यार्थी और अनुसंधान को काम्य का मम समझना उमका व्यावसायिक कृतम्य-कम है। मरक का अपने पाठक के साथ सम्बन्ध जहाँ पराध हाता है वहाँ घण्टापक का प्रत्यक्ष होता है। काम्य का एक मूस उद्देश्य है सम्प्रति करना—मरक घण्टापक का भी यही पहला मुग है। काम्य के संबंध-गार को काम्य से लीज कर अपनी आत्मा में भर सता और फिर उस अपनी आत्मा के रम में पागवर प्रहृणमीम छात्र-जग की आत्मा म भरकर उमकी प्रत्यक्ष-धनता को स्पृण कर देना घण्टापक की निधि है और मरा विद्वान है कि घामोचक भी इसम बड़ी किनी निधि की कामता नहीं कर सता। कामायनी आदि को क्याम देने के बाद मर मन में प्राय यह घाता है कि घण्टापक भी साधारणोकरण का एक समर्थ साधन है। घण्टापक के इस रूप पर निरूप्य हो घामोचक के साथ पतिष्ठ घामोचक मन्व्य है। घामोचक के कृतम्य-कम की चरम परिणति यही है। इसके घामे सन्-धमन् का निर्गम भी उमका धम है। स्वयं निराय और छात्र-जग की निराय-शक्ति का विनाम घण्टापक के धम की परिधि में भी घाते हैं। साहित्य का घण्टापक मे भव करता और कराना मरक घण्टापक का भी उतना ही घावदयक कर्मण्य है जितना घामोचक का। अपनी सामित परिधि म घण्टापक भी काम्य-विज्ञानियों की गति का सम्भार तथा निर्माण कर घामोचक की पूब पीठिका तयार करता है। धम में साहित्य की गति-विधि का नियंत्रण तथा मरक घण्टापक का उच्चतम मन्व्य माना गया है। इस विषय म मरा निबद्ध यह है कि घण्टापक रूप से कोई-कोई प्रत्यक्ष समर्थ घामोचक ही एसा कर सता है सामान्यत यह सम्भव नहा हाता और साहित्य के लिए यह सुम मरण भी मरा है। साहित्य की गति-विधि का मरक घण्टापक का घावदयक प्रविभा द्वारा हो सम्भव है। घामोचक उमका घास्वान कर उमके काम्य-गौदय का सुजन कर, उमके संबंध व साधारणोकरण म योग देकर, सार-मन या काम्य की मरकमो में सहृदय-मन जनाता है। इसमे घण्टापक का मरं घामोचक के लिए उचित नहीं है। घण्टापक भी अपनी छोटी-सी परिधि में मरक घाव कर सता है। मर घण्टापक साहित्यियों का यह रहन गुता है कि घाव घण्टापक माग विगको जहा से यही मरकमि है। उमकी यह विवादन घण्टापक व मरक की घण्टापक स्वीकृति है। इस प्रकार घण्टापक घण्टापक मरक घामोचक व कर्मण्य का निर्वाह करता है।

यह तो हमा उमगत पण। साहित्य-सुजन के लिए घण्टापक-कृति की कुछ बाधाएं भी हैं। घण्टापक के लिए एक बड़ा सतरा यह है कि कृता का मिज्ञान की बाध करन-करने घामोचक मरक न बन जाए। साहित्य-सुजन की सक्रम

बड़ी बाधा है यह। यह बीधे उसकी आस्वाद-वृत्तियों को कुंठित कर सृजन-शक्ति का नाश कर देती है। अध्यापक सिद्धान्त के रुढ़ि-वास में जकड़ जाता है उसका व्याख्यान-विश्लेषण अपनी स्फूर्ति को बँटता है। ऐसे अध्यापक को एक प्रकार के छद्म रस के प्रति रुचि हो जाती है और वह छात्र के माध्यम से काम्य का मग्न करता हुआ उसके वास्तविक रस से अपने को वंचित कर लेता है। ऐस अध्यापक की आलोचना स्वभावतः ही छद्म-आलोचना होगी। एक दूसरा बड़ा खतरा परीक्षा का है। कोई भी ईमानदार अध्यापक परीक्षा की एकान्त उपेक्षा नहीं कर सकता ऐसा करना अपने व्यवसाय के प्रति बर्झमानी होगी। परीक्षा साहित्य-सिखण का निहृष्टतम किन्तु व्यावसायिक दृष्टि से अनिवार्य धर्म है। छात्र की शिक्षा-व्यवस्था में उसका महत्त्व सर्वाधिक है—उमें सन्देह नहीं। इसलिए कोई भी अध्यापक परीक्षा से सर्वथा पराङ्मुख होने का बम्न नहीं कर सकता। उसका विद्यार्थी ऐसा करने भी नहीं देगा। अध्यापक आलोचक को चाहिए कि साहित्य-सृजन और अपने व्यवसाय के इस धर्म में किसी प्रकार की मीथी न होने दे, अन्यथा आलोचना में सुगम-बोध की पथ घाने लगेगी। इस व्यवसाय का यह खतरा भी बहुत बड़ा है। तारतम्य है शिक्षक वृत्ति का विकास। काम्य के आस्वादन के लिए कवि और काम्य के प्रति अट्टा भाव अनिवार्य है। कवि के समग्र प्रमाता को विद्यार्थी-रूप में जाना चाहिए। विद्यार्थियों को पढ़ात-पढ़ाते अध्यापक का यह दृष्टिकोण कुण्ठित हो जाता है। वह कवि के सामने भी शिक्षक के रूप में जाता है। आलोचक की यह धीर विफलता है और अध्यापक-वृत्ति इस दृष्टिकोण का दुर्गुह्यकर कर आलोचना के सृजन में बाधक होती है। अध्यापक-आलोचक को इन बाधाओं के प्रति अत्यंत सतर्क रहना चाहिए—उस नासिद्ध का यह खेर मूढ-मन्त्र के समान सदा याद रखना चाहिए कि —

इरक कर दिल में द अगाह मासिख ।

इल्म से शायरी नहीं आती ॥

कहानी और रेखाचित्र

‘तुम बाबू क्या सदा हमारा प्रतिपार समाज प्राप्त को ?

—बार स्टार्ट करते हुए मैंने पूछा ।

“मैं तो काफ़ी प्रभावित हुआ । पिछले बार मैंने काग़ा से पूछा था कि दिल्ली में साहित्यिक जीवन क्या है ता उसने कहा था कि साहित्यकार तो यहाँ बुर नहीं हैं लेकिन साहित्यिक जीवन कोई ख़ाम नहीं है । मरकर पनि बार समाज है उसमें भी तु-तू मैं-मैं या हा-हा ही-ही रहती है । पर आज ता मैंने देखा कि यहाँ विचार-विमर्श का स्तर अर्द्ध-अर्द्ध पाश्चिमी परिपदों से ऊँचा रहा है ।”

“हाँ—कान्ता हा-हीन बार आई थी । उन दिनों मध्यमक पाढ़ो-सी गिदि सता था गई थी जो मदा अस्वाभाविक नहीं होगी । रही हा-हा ही ही की बात—कहा ता आज भी थी ही और मेरा मयात है मयादा क भीतर सदा रहनी भी चाहिए । धानिर यह कोई परीक्षा-मकन ता है नहीं और न यहाँ धानिक उत्पन्न ही होता है । बास्तब म धानिकार समाज दिल्ली क साहित्यिक जीवन को अविभक्ति का धनिवार्य माध्यम बन गया है । बीच-बीच में थोड़ा-सा रोपिन्स या मामूनी-सी रपड़ भल ही पैदा हो जाए पर साधारणतः इने प्रायः सभी का मरुभाष प्राप्त है । पहले बिरंजीत मे इमे टोक बना रहा था और धर विष्णु जो ने जब से इस फिर मंभाला है तब म इसमें फिर जान था गई है । विष्णु धारमी बन हैं और कुणाय भी ।”

तैमर्य मारुत जोहरी सेन्ट जोन्स में मेरे सहायता प उत्मानिया मुनिब सिने में १ दर पंद्रवी क अम्यापक रहने क बाद हाल ही में टारेण्टो मे “मौल्य दास्त” पर पो-एच० टी० की डिप्टी सेकर धाल हैं । सिन्धी म अपने किसी सम्बन्धी के यहाँ धाल हुए प । पिछले से पिछले धानिकार की धाम का मेर माप प । इस धर्मे पर धानिकार समाज म मेरे साथ धाल प रि उनको अ-रिभित रपक ही रहन दिया जाए । इमीनिण मुममे बुध पादा ह्पर बाने म रूँट न्प

मे घीर बिना बोले सब-कुछ चुपचाप दबल-मुनठे रहे थे। जैसे बड़े तेजस्वी व्यक्ति हैं। हिन्दी घीर अंग्रेजी दोनों में ही बोझ-सा लिखा है पर जो कुछ लिखा है उसमें कमक घीर भार दोनों हैं।

विन्सी दरवाजे पर एक महिला को उठारने के बाद मैंने फिर बातचीत का क्रम जारी रखते हुए कहा "घाज का विषय बड़ा बुराह-सा था। तुम्हारा क्या क्याल है? तुम्हें किसकी बात क्यादा जंची? मेरे इस वाक्य को सुनकर ऐसा भगा जैसे जनकी मौलिकता पर कोई चोट मगी हो हालांकि मरा मह मतलब बिस्मृत नहीं था। बोले— घाई कैन बिक ऊार माई सैस्फ मेडिन फिर मी घाज सभी के विचारों में पर्याप्त तथ्य था। आपके वहाँ कोई रेकार्ड नहीं रखा जाता क्या? मैं समझता हूँ घाज की बहस को यदि सेब-वद कर दिया जाए तो कहानी घीर रेखाचित्र के अन्तर पर अत्यन्त मौलिक निबन्ध बन सकता है।

मैंने कहा "ऐसा कोई चीज विवरण हम लोग नहीं रखते। किन्तु घाता मेरे मन में भी है कि इस सेबबद्ध किया जाए।"

शैलू बाबू बोले— अच्छा।

शैलू बाबू ने घायब उसी रात को बैठकर बहु सेल मिल डाना घीर का तीन दिन बाद टाइप कराकर से घाए। मैंने भी चार-छ. दिन में मिल डालने का वावदा किया पर काम इतना घा पड़ा कि मैं न मिल पाया घीर शैलू बाबू पिछले सोमवार को चले गए। मैं सोच रहा था घाज तक तो घपना सेज ठंवार कर ही दुंगा घीर दोनों को ही अनिवार समाज की बैठक में पड दुंगा। परन्तु मैं तो घाज भी रह गया। इसलिए अब घायके सामने घपने मिल डा० शैलेन्द्र मोहन का सेज ही प्रस्तुत किए देता हू। घगामी गोष्ठी में घपना सेल भी निबन्ध ही से घाडंभा।

×

×

×

"उस दिन भाई नरेन्द्र के साथ विन्सी के उत्तिवार समाज में गया था। नगन्द्र ने बादा कर लिया था कि मुझे अपरिचित ही रहने दिया जाएगा फिर भी मैंने कुछ घीर सावधानी बरती घीर उनसे थोड़ी दूर कोने में चुपचाप बैठ गया। इससे मुझे दुगना साम हुआ। अनावश्यक परिचय के उपहास से बच गया घीर साथ ही घ्यातपूर्वक गोष्ठी के वातावरण को सुन सका जो घायद नरेन्द्र के पास बैठन से सबका सम्भव नहीं था क्योंकि उनमें गम्भीरता घीर चंचलता का इतना अन्तरेष मिश्रण है कि दो-एक मिनट के अन्तर से ही वे गंभीर से गंभीर बात घीर फिजूल से फिजूल बचवास कर सकते हैं क्नास में एकाध बार मुझे जनकी मेहरबानी से प्रोफेसर टंडन का अचारण ही कोय आजन बनना पडा था।

गोष्ठी में कुछ देर उन दिन क सनक-बस्ता भी० दर की प्रतीक्षा रही।

उत्तरे घाते ही लख-पाठ धारम्भ हुआ गया। श्री० हर दुहरे बदन के स्वरूप प्रसन्न व्यक्ति थे। मुखाबन्धा का उल्साह और धारम-विश्वास तथा प्रौढ़ि का गाम्भीर्य उत्तम था। थोड़ी-नां धमा-याचना के बाद उन्होंने अपना मेधा धारम्भ किया। 'म धमा-याचना क हो कारण थे। एक तो समयभाव के कारण लख बन्धी में लिया गया था और दूसरे हिन्दी में—जिस उन्होंने अभी पाठे दिन से शुरू किया है। दोनों बातें ही ठीक थीं। मूल में—इन्दी के कारण निश्चय ही प्रसन्नता का भाव ही दूसरे उत्तम विषयों और विषयों की अपेक्षा वर्तमान प्रतिक था। माया में उर्ध्व की शक्ति और शक्ति साफ जाहिर थी फिर भी हिन्दी के प्रति अत्यधिक सख्त होने के कारण वह अगह-अगह कुछ गभीर हा जाती थी और हर साहब को खानी बनाए रखने के लिए प्रायः महज को और कभी-कभी अपने चेहरे और गर्दन को मान देना पड़ता था। और यह तो मैं था ही प्रसन्नता बहु गया। हर साहब के मेधा का प्रतिपाद्य अत्यन्त स्पष्ट तथा निर्भास्य था और इसका कारण यह था कि उन्होंने केवल बौद्धिक रूप से नहीं बल्कि व्यावहारिक रूप में अर्थात् एक ठोस धारमोच्छ्रम की भाँति महा बदन एक स्वतंत्र मन्त्र कलाकार की दृष्टि में प्रत्यक्ष प्रदर्शित किया था। उनका अभिमत था कि बहानी और रेखाचित्र में कोई मौलिक अंतर नहीं है। यह धारणा समतल है कि घटना की प्रधानता बहानी का रेखाचित्र में वृत्त करनी है। बहानी के लिए घटना विस्मय प्रेरणा नहीं है और उनके अनिश्चित घटना केवल स्थूल और भौतिक ही हो यह भी जरूरी नहीं है वह मानसिक भा हो सकती है। इसी प्रकार तथानुचित रेखाचित्र में भी घटना का एक ही धारम नहीं हो सकता। अतएव प्रायः वह कि रेखाचित्र में अति-अपेक्षा की प्रधानता होती है ता यह भी बहानी के क्षेत्र में बाहर की चीज नहीं है। इसलिए रेखाचित्र बहानी का ही एक रूप है। आज बहानी की परिभाषा इतनी व्यापक और उत्तम की रूप-रेखा इतनी गिथि हूँ गई है कि रेखाचित्र नाम की चीज अत्यन्त गभीर रूप में उत्तम भीतर ही था जाती है।

उत्तरे बाद बहन में कुछ सामान्यता का भाव। साम एक-दूसरे से अत्यन्त विचार प्रवृत्त करने के लिए आग्रह करने लग। अतः म मन्त्र की ही योजना पडा। नदर में मैंने अत्यन्त ही अत्यन्त धारम जा आज मे १८१६ २५ पन्थ मन्त्र धारम में थी। यद्यपि उन्होंने कुछ दो-चार पन्थों में भी लिए थे फिर भी वे अत्यन्त ही निश्चित बलम्य देन से अत्यन्त अत्यन्त की वाग्विचार कर रहे थे। धारम उन्हें बहानी शुरू किया। बहानी और रेखाचित्र में कोई अत्यन्त अंतर करना अत्यन्त है फिर भी दोनों में अंतर अत्यन्त है क्योंकि वे दोनों एक धारम भी अत्यन्त प्रथम है और अत्यन्त प्रयोग करने बाद अत्यन्त द्वारा एक ही अर्थ की अत्यन्त नहीं करने। बहानी के अर्थ में तो जिनको अत्यन्त अत्यन्त

होने की जाहज़द नहीं है रेखाचित्र के विषय में ही कठिनाई है। स्पष्टतया ही रेखाचित्र चित्र-रूपा का शब्द है जैसा कि नाम से ही व्यक्त है। इसमें चित्रांकन का मूल आधार रेखाएं होती हैं। क्यामिति में रेखा की विशेषता यह है कि इसमें सम्बन्ध मात्र होती है मोटाई चौड़ाई आदि नहीं होती। अतएव अपने मूल रूप में रेखाचित्र में मोटाई चौड़ाई अर्थात् मूर्त रूप और रंग आदि नहीं होते। उसमें आकार तो होता है पर अकार नहीं होता इसीलिए उसे आकार भी कहते हैं। जब चित्रकला का यह शब्द साहित्य में आया तो इसकी परिभाषा भी स्वभावतः इसके साथ आई अर्थात् रेखाचित्र एक ऐसी रचना के लिए प्रयुक्त होने लगा जिसमें रेखाएं हों पर मूर्तरूप अर्थात् उतार-चढ़ाव—दूसरे शब्दों में उतार-चढ़ाव—आदि न हो। तथ्यों का उत्पादन मात्र हो। पूर्व आयोजन प्रकृतियों का आयोजित विकास न हो। रेखाचित्र में तथ्य चुनते जाते हैं संबोधित नहीं होते हैं। कहानी के लिए घटना या होना जरूरी नहीं है पर रेखाचित्र के लिए उसका न होना जरूरी है। घटना का अभाव वह बहुत नहीं कर सकता। इसी प्रकार कहानी के लिए विरलेपण किसी प्रकार भी अर्थात्संभव नहीं है परन्तु रेखाचित्र का वह प्रायः अनिवार्य सामग्री है।

—नगेन्द्र के अन्वय से समता का उनके मन में कहानी और रेखाचित्र के मूलम आधार की एक निश्चित धारणा अन्वय है और वह स्पष्ट भी है। बोझा जोधने पर वह मुझे और मैं समझता हूँ कुछ और व्यक्तित्व को भी स्पष्ट हो गई पर उनका कहने का ढंग अच्छा नहीं था। उनका विचार स्पष्ट था पर उनके भाष्य एक दूसरे से सिपट जाते थे और वे हकलाने लगते थे। यह अन्वय मुझे संज्ञा जोधने के अनेक दृश्य याद आ गए जब बहुत के समय नगेन्द्र की कथित रत्नाकर की मोपियों को जैसी ही जाती थी—'लेकू कहो नैननि येन कही नैननि सौं रजो-सही सोऊ कहि सीनी हिचकीन रौं'। मुझे याद है कि एक दिन ये गुस्वर प्रो० प्रकाशचन्द्र से भी सड़ पड़े थे और महीनों उनके यहाँ नहीं गए थे।

उस दिन भी कई ऐसे व्यक्ति थे जिनको नगेन्द्र की बात समझी-सी लगी। एक नौजवान उनसे जलभ भी पड़े। बोले—'जानकर साहब उदाहरण देकर अपना अन्वय स्पष्ट करें ता ठीक है। नगेन्द्र मन में उदाहरण सोचने लगे थे कि विष्णु की ने महादधी के रेखाचित्रों की ओर संकेत दिया। नगेन्द्र बोले हाँ अतीत के 'चल-चित्र' और 'स्मृति की रेखाएं' दोनों ही रेखाचित्रों के संरक्षण हैं। उभर प्रियचन्द जी की अधिवास तथा-कृतियाँ धारमाराम मन्दिर, कथन आदि कहानियाँ हैं।—पर प्रत्यक्षता इससे सम्बन्ध नहीं हुए, उनका कहना था कि महादेवी की उपयुक्त कृतियाँ रेखाचित्र नहीं हैं सम्मरण (मिमोयर्म) हैं। परन्तु यह लोगों को मान्य नहीं हुआ। उस समय तो मुझे भी उनका ठकं कुछ

बहानी-मा सगा घोर इसका कारण थाय यह था कि अदोबी का (सिमोयम) पद इस प्रसंग में कुछ भ्रामक था। सिमोयम में अनिष्टामिकता प्रायः अनिष्टाय ही ही रहती है घोर महारोबी के चित्रों में निश्चय ही यह बात नहीं है। परन्तु प्रश्नकर्ता का तर्क सबका भ्रमण नहीं था। महारोबी के चित्र प्रायः सम्मरण ही हैं। अन्तः शक्ति ही है कि उनके विषय प्रसिद्ध व्यक्ति न शहर अपरिचित व्यक्ति हैं। लेकिन मेरी धारणा है कि सम्मरण घोर रेखाचित्र में किसी प्रकार का विरोध नहीं है कोई मौलिक अन्तर भी नहीं है। साम्प्रद में उनकी भाषा एक ही है या यह कहिए कि सम्मरण रेखाचित्र का एक प्रकार मात्र है विषय एक व्यक्ति का चित्र होना है घोर यह व्यक्ति प्रायः साम्प्रदिक होता है काय निक नहीं।

'सिमोयम' पद को लेकर एक घोर गज्जन नामक छाया। बाद में मुझे मामूम हुआ कि वे प्रो० बाणरूपण प या बहुत गिना तक इतिहास के सम्पादन करने के बाद धातुकुल राष्ट्रपति के प्रेस-कॉटेज हैं। उनका मन था कि मनायर एक अमल थीक है यह इतिहास की बन्धु है उनका गिरा अनिष्टामिक एक संकलन का निश्चय आधार अनिष्टाय है। रेखाचित्र के माय उमका कार्म सीधा सम्मन्त्र नहीं। परन्तु प्रो० बाणरूपण का अन्तः की स्थापनाप्रा पर भी अपरिचित थी। उगरेने कहा कि पूर्व-साधारण का रेखाचित्र के लिए भी उनका ही धारण है कि उनका बहानी के लिए, अन्तः यह कहना ठीक नहीं है कि रेखाचित्र में कबल उद्घाटन मात्र होता है, यह अन्तर सापेक्षिक है। मूलतः का कार्म भी इति धनासाक्षित नहीं होती। दाता ग मात्रा का अन्तर है। प्रो० बाणरूपण ने अपने तक का घोर धारण बहाने हुए कहा अन्तर दाता में साधारण की मात्रा का ही अन्तर है तब भी यह अन्तर धारण या अन्तर के अन्तः-साधारण का हा रहा मूल धारणा का कहा। मन्त्र के कहा हा बहुत-बहुत यह अन्तर अन्तर का ही है यद्यपि अन्तर घोर धारणा का एक दूसरे में इनका अन्तर सम्मन्त्र है कि इन विषय में सर्वदा एकात्मिक निर्देश नहीं किया जा सकता। परन्तु साम्प्रदिक बहानी घोर रेखाचित्र एक दूसरे के अन्तर निकट है कि दाता का अन्तर प्राणिक न शहर धारणक हा माना जा सकता है। पता रहा प्रो० बाणरूपण को यह मन कहा हा साय था परन्तु उनकी धारणा इस विषय में कुछ घोर हा थी। उनका कहना था कि रेखाचित्र में रेखाओं का आधार हाता है यह धारण का कहा। अन्तर उनमें से अन्तर अन्तर का सम्मन्त्र रहा है। रेखा रंग की धारणा सूत्र है—रंग अन्तर अन्तर की धारणा। इस लिए रेखाचित्र घोर बहानी का मूल अन्तर यही है कि रेखाचित्र बहानी में सांकेतिक अन्तर होता है। अन्तः न उनकी यह धारणा कहा दाता अन्तरिक बहानी में भी उनका अनुसार अधिशासिक सांकेतिकता हो सकती है घोर अन्तर

होनी है। वह कहुती कम है पाठक के मन में संकेतों द्वारा संसर्ग-बिन्न ही प्रकट जनाती है।

इस प्रश्नोत्तर के उपरान्त एक और सज्जन श्री० तिवारी ने हमकी परम्पु विद्वान्म घाबाह में कहा 'साई, प्रश्नर दोनों में एक ही है कहानी पर्याप्तक होती है रेखाचित्र स्थिर होता है।—'स पर जैनेन्द्र जी ने स्वीकृति-सूचक सिर हिमाया—मार्गों घब तक के विचार-विनिमय में पहली बार तम्म की बात कही गई हो। परम्पु जैनेन्द्र जी के घाशीर्वाच के बाबजूद एक मित्र तिवारी जी से गत्यात्मक (Dynamic) और स्थिर या स्थिरात्मक (Static) शब्दों की परिभाषा को लेकर उभक्त पड़। कुछ ही क्षणों में सभा में पारिभाषिक शब्दों का घटाटोप छा गया क्योंकि बायी-प्रतिबायी दोनों ही जान-घनजाने पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग कर रहे थे। प्रहार और प्रतिरक्षा दोनों का ही साधन पारिभाषिक शब्द थे। परम्पु यह स्थिति प्रकिक देर तक नहीं रही और संवाचक महोदय ने इस ताकिक ब्यवरोध को मंग करने के लिए जैनेन्द्र जी से अपने विचार व्यक्त करने का अनुरोध किया। जैनेन्द्र जी से धारम्भ में भी प्रारम्भ किया गया था परम्पु उस समय उन्होंने कहा था कि हम कुछ कहना नहीं है। इस पर मुझे धारण्य भी हुआ था क्योंकि मैंने रेडियो पर उनक कई बक्तव्य सुने थे जिनमें प्रत्युत्पन्नमति का शब्दा निर्वर्तन था। इधर मनेन्द्र ने भी इसकी पुष्टि करते हुए कहा था कि इस प्रकार के तात्कामिक परिमंवाधा में जैनेन्द्र जी की प्रतिभा विशेष रूप से निलर उठनी है। इस बार जैनेन्द्र जी सहज स्वभाव में प्रस्तुत थे मुझे लगा जैसे वे धारम्भ क नहीं उपसंहार प्रकवा यों कहिए बन्ता के नहीं प्राशीर्षजन के घम्मस्त हों। जैनेन्द्र जी ने धीरे-धीरे बीच क शब्दा नौ—'प्रायः विभक्तियों को—'सीचकर उच्चारण करत हुए बोसना पुरु किया हमका ता तिवारी जी की बात टीक सगती है परम्पु पारिभाषिक शब्द परिधाना पैग बन देते हैं। इममें सम्वेह नहीं कि कहानी गतिमती होनी है और रेखाचित्र स्थिर। कहानी में रेखाचित्र से एक पहलू प्रकिक होता है यदि रेखाचित्र में एक पहलू होता है तो कहानी में दो और घयर रेखाचित्र में दो मानिए तो कहानी में तीन याती घयर रेखाचित्र में चिहं सम्बाई ही है तो कहानी में सम्बाई के घतिरिक्त चौड़ाई भी होती है और घयर रेखाचित्र में सम्बाई और चौड़ाई हानी है तो कहानी में मोटाई या मोसाई और मानती पड़ेगी। लेकिन यहाँ भी घम्म की उलकत पड़ हो गई। एक निहाल विवर में अपनी बात और साफ कर दू। गिनेमा में इस अनोख-ब्यप हाता है यह तो रेखाचित्र हुआ जब कि एक पैहरा बडा हात-हरे घारे स्थान को ब्यप सैता है और बाकी विम्म कहानी हूँ। जैनेन्द्र जी ने बात घाने घाय में साफ की बारतक म उनकी धारणा घाने घाय में पया स्पष्ट थी और यदि कुछ नहीं उतमज

रह भी जाती थी तो वह उनकी बाणी में भाटे-भाटे सुनकर जाती थी। प्रायः लोगों का विचार बाणी से प्रागे दौड़ता है जिसके कारण उनका धर्म उसका जाते हैं। कुछ के विचारों और धर्मों में उचित सतुनन होता है परन्तु एक तीव्रता बर्ग भी होता है जिसका विचार तो पैर हाते ही है। उनकी बाणी उनमें भी ज्यादा पैनी होती है जो उनके विचारों में और पक्क पंदा कर देती है। अनेक भी में मही बात है। उनकी दायमे-गुन वाला का मगद की ही बात का स्पष्टीकरण भी परम्पु अपने घाप में वह नमेन्द्र न उधों में कहीं अधिक प्रकृतिक दी। फिर भी जैनेन्द्र भी तो लगा कि जैसे उनकी बात का वास्तव प्रभाव नहीं पडा। चारों और घायें जुमाकर अपनी बात का प्राग बहात हुए बाल— रेखाचित्र अपनी स्मरणा में कुछ गतिहीन हो जाता है वह शेष से कटकर अपने घाप में स्वगत हो जाता है इसलिए उसमें उस और तीव्रता की कमी होती है। वह कुछ 'मकसूर' होता है। अनेक भी जिस धर्म के लिए काफी दर म मक रहे य वह मानो उन्हें मिस गया था और उनका माना को पीना देने का उद्देश्य मानो पूरा हो गया था। इसलिए वे अपनापम ही चुप होकर एक बार फिर इपर-उपर करने लग। 'मकसूर' के इस विभिन्न प्रयोग में भी और मरी तरह कुछ नव साग बालक में चौक गए लेकिन अधिकतर लोगों ने उस हंमकर टाम दिया मानो वह कोई नई बात नहीं थी। सम्भव है य साग प्राचाय विनोबा के बदाप्पी धर्म पर पहम ही चौक लिए हों जिसमें प्राय उनकी प्रतिध्वनि का बार गाली पडा।

जैनेन्द्र जो की बात को लेकर एक और सदस्य भी महावीर अधिकारी में भी अपने विचार प्रकट किए। उनको कमीज-अप वाली बात धर्मात् रेखाचित्र में एक व्यक्ति-विश्व-विषयक स्थापना बहुत पक्का घाई और उमी पर बस देत हुए उन्होंने कहा कि रेखाचित्र जहां एक व्यक्ति की तस्वीर मानने लगता है वहां बहानी व्यक्ति को समाज के समक्ष में प्रकृत करती है—अतएव बहानी में रेखाचित्र की अपनी अधिक सामाजिकता होती है। मुझे ऐसा लगा कि अधिकारी जो सामाजिकता प्राणि धर्मों पर और दूर रहम में कुछ प्रगतिशील रूप माने की कोशिश कर रहे थे पर विषय मकसा में उचित एक पारिभाषिक या इसलिए उन्हें कुछ पुंजापन नहीं मिया।

रहम यहां प्राकर समाप्त हो गई, और धर्म में नियमानुसार प्रागम्भिक बरता थी। दर म रहम का जबाब देन के लिए कहा गया। श्री० हर धर्म भी अपनी बात पर जमे हुए थे—उन्होंने प्रायः सभी विनोबी मुस्लिमों का अपने पदा में चुना करने हुए फिर अपनी स्थापना का हद किया। उन्होंने कहा कि बहानी में लक्ष्य उद्घाटन विनयण प्राणि सभी हो मकन है और जान है। उसमें तो दायमे-गुन भी होती है और तीन भी इसी तरह एक व्यक्ति-विश्व का

होना उसके अन्त से बाहर की चीज नहीं है। परिण-प्रधान कहानियों में प्रायः एक व्यक्ति-चित्र पर ही जोर रहता है। रेखाचित्र की कहानी स प्रसंग नाम और रूप देने की कोशिश बेकार है।

×

×

×

घर जाकर सोचा कि देर करने से कदाचित् मन के चित्र इतने स्पष्ट न रहें इसलिये खाना-बाना खा कर ही भिन्न न बैठ गया। सब से पहले तो मिस्टर घर की स्थापना ही सामने आई। इसमें संदेह नहीं कि भाव कहानी की परिभाषा इतनी विचित्र हो गई है कि रेखाचित्र भी उसमें समा सकता है। फिर भी इन बातों चर्चों का तो अर्थों में सम्प्रयोजन प्रयोग होता है। अतएव दोनों में अंतर अन्वय है। रेखाचित्र न तो शायमन्थान होती है। एक सेखर और उसके एकात्मक विषय के बीच की सम्बन्ध रेखा और दूसरी इस सम्बन्ध-रूप और पाठक के बीच की सम्बन्ध रेखा। रेखाचित्र का विषय निश्चय ही एकात्मक होता है उसमें एक व्यक्ति या एक वस्तु ही उद्दिष्ट रहती है। कहानी में एक शायमन्थान और वह जानी है यह प्रतिरिक्त शायमन्थान विषय के अन्तर्गत जानी है कहानी का विषय एकात्मक नहीं रह सकता उनका ईत भाव जाना चाहिये अर्थात् एक व्यक्ति अपने में कहानी नहीं बन सकता। उसका अपने प्राय में होता कहानी के लिए काफी नहीं है कहानी में उसे दूररे या दूरों की सापेक्षता में कुछ करना होना-प्रेम करना होना बैर करना होना सबा करनी होनी कुछ करना होगा अपने में निमग्न रह जाना काफी नहीं होगा अपने से बाहर निकलना होगा। इस प्रकार कहानी का विषय एक बिन्दु न हाकर दो या अनेक बिन्दुओं की संयोग रेखा होती है। यही एक प्रतिरिक्त शायमन्थान है जो कहानी में बह जाती है। इसी रूप में प्राय चाहें तो उसे रेखाचित्र की अनेक अभिक गत्यात्मक कह लीजिए अथवा यह उच्च स्थिति को स्पष्ट न कर उसे उपमाता ही है क्योंकि उपर्युक्त धर्म की अर्थना यह भी नहीं करता। इसीलिये पाठक को समता है कि कहानी में रेखाचित्र की अर्थना रम अभिक होना है क्योंकि ईत में निस्सन्देह ही अर्थ की अनेक अभिक रम है और अन्त में इसी लिए रेखाचित्र को पढ़ कर एसा समता है जैसे बात अचूरी रह गई। उसमें विज्ञान की उद्बुद्धि मात्र होकर रह जाती है इससे विपरीत कहानी में अचूरी परिगुप्ति हो जानी है क्योंकि जहाँ रेखाचित्र में 'मैं' और 'तू' रहन है—'मैं' अर्थात् मूलक अथवा परिणामक पाठक और 'तू' अर्थात् विषय वहाँ कहानी में 'मैं' 'तू' और 'वह' का पूरा पूरा हो जाता है।"

बादा—स्वर्गीय प० घालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

मेरे किशोर मन में जैसे जैसे साहित्यिक चेतना का विकास हुआ गया वैसे ही स्नैप-बिरेग के बनावारों के कल्पना भूमिगत रामानी चित्र मन मन में बनने लगे और उनका माप एक विशेष प्रकार का रागात्मक मन्त्र स्थापित होने लगा। बाल्यभर में प्रमाद और प्रमत्त का छोड़कर इस युग का प्राय सभी मुख्य मंत्रों में परिषय का मौनात्म प्राप्त हुआ और मेरे साहित्यिक संबंध ब्रह्मण दो बगों में विनष्ट हो गए। पहला बग का नाम मन्त्रों का है जिसके माप मेरा बहि-गुरुद्वय-संबंध ही अधिका है—जिस संबंध में मनमत्त मन्त्र धार्मिकता की धरोहर बुद्धि और कल्पना में सम्पूर्ण एक प्रकार की अप्रत्यक्ष धरा हो चुकी है। दूसरा बग के बहि-मन्त्र का माप साहचर्य का भी सुयोग मिलने से कल्पना-मन्त्र हीन और भाव-मन्त्र धनायाम ही प्रगाढ़ हो गया है। यह कल्पना भाव बन्धन है कि इस मन्त्र में मन्त्र का ही नाम हुआ बहि-मन्त्र संबंध का विकास का माप-माप साहित्यिक संबंध का ज्ञान धर्मधनाधीन का और जहां व्यक्ति की गरिमा इस धर्मधर्म में प्रयत्न रही वहां का हानि ही अधिका रूप लगी है।

नवीनता इस दुमरे बग में हो जाने पर। विद्यमान मान प्राय बगों में मुख्य रहा—साहचर्य भी वैश्वभोगरत युग के माध्यम में उनका माप पारिवारिक संबंध-माप का था जो के केवल बहि-मन्त्र में रहकर दादा नवीन बन गए थे। फिर भी उनके माप वैश्वभोग-संबंध की स्वायत्ता में साहित्यिक-संबंध की विनष्ट धर्म लगी हुई। उनके दो कारण थे एक तो यह कि उनका अधिकांश साहित्य धर्मधर्म ही था इसलिए व्यक्तिगत परिवार में पूरा साधन का परिषय का विनष्टता पतित नहीं था अन्य मन्त्र मन्त्रों में उनका बहि-मन्त्र का मन्त्रधर्म भी रहा ही। दूसरे उनका व्यक्तिगत भी यह विनष्टता थी कि उनका धर्मधर्म ही में लगी पन्तु मापीय के ही विनष्टता था। बादा के मन्त्र संसार में लगी है—दिल्ली की साहित्य-मन्त्रों में ददा के पन्तु की माध्य-मन्त्रों में

उनका प्रभाव मन में एक हूक-सी पैदा करता है। कई बार उनके विषय में लिखने की प्रेरणा हुई—बाहर से भी और भीतर से भी किन्तु अभी तक उनकी मृत्यु का छोकर मनोबन्ध की स्थिति पार कर स्थायीभाव नहीं बन पाया। इसीलिए उसकी अधिभ्यक्ति के निष्पन्न प्रयास से मैं बचता रहा किन्तु अब उनके प्रति भावातिशयि धर्मित करना अनिवार्य हो गया है। शास्त्र में बहो धनेक प्रकार के ऋणों की बर्षा है बहो न जाने भावना के ऋण की उपेक्षा क्यों कर दी गई है? मुझे लगता है कि आत्मा के बँधन के लिए धन्य ऋणों की अपेक्षा भावना के ऋण से मुक्ति पाना अधिक आवश्यक है। घाम इस संस्मरण के द्वारा अब मैं उस ऋण-मोक्ष का पहला प्रयत्न कर रहा हूँ तो मेरी कल्पना में नबीन जी के तीन चित्र क्रमशः उभरकर घात हैं।

? (कानपुर—१९४५)

घपन छोड़-कार्य के संबंध में सामग्री-संकलन करता हुआ मैं स्वर्गीय प० कृष्णसिंहारी मिश्र के ग्राम पधौली से कानपुर आया था। प० बासहृष्ट्य धर्मा 'नबीन' उन दिनों वहीं थे। वृत्त दिन प्राण राम ही मैं प्रताप-कार्यालय में उनके बर्षान करने पहुँच गया। वे मुख्य कार्यालय के भीतर ही एक छोटे-से कमर में बँठे थे—दायाद उनमें ही बँ रूत भी थे। उन्होंने अत्यंत सहज भाव से मेरा स्वागत किया। उस समय तक उनका नाम साहित्य जगत में प्रसिद्ध हो चुका था—राष्ट्रीय कवियों की पंक्ति में वे घदली थे। किन्तु उनका केवल एक ही काव्य-समूह 'कृमकृम' प्रकाशित हुआ था—उनका अध्यायन तो मैं कर चुका था किन्तु उसके बाये मेरा उनके इतिहास और व्यक्तित्व से परिचय नहीं था क्योंकि मैं न तो 'प्रताप' का ही पाठक था और न नबीन जी की कर्मभूमि कानपुर घबना सम्प्रदाय से ही मेरा कोई सम्बन्ध था। हिन्दी के एक विशिष्ट कवि के प्रति जिन प्रकार की अज्ञा और सम्प्रदाय की भावना अपेक्षित थी मेरे मन में वह विद्यमान थी। साहित्य में उस समय तक मेरा भी प्रवेश हो चुका था मेरी प्रथम बार घामोचना-पुराण—'भूमिभ्रान्तवत पंत से लेकर 'विचार और अनुभूति' तक—प्रकाशित हो चुकी थी। घत 'नबीन' जी के लिए भी मैं सर्वथा अपरिचित नहीं था। हिन्दी कविता के इतिहास में यह वह समय का जब छायावाद का प्जार उतर चला था और उसके प्रति एक प्रकार का मुपर विद्रोह बन पकड़ रहा था। जीवन और साहित्य के गूढम-अधिमानसिक मूल्याँ के विरुद्ध यहिर्मु'प राष्ट्रीय-सामाजिक 'वृत्तिया उभरकर सामने आ रही थी। इन घांरामन के पीछे यद्यपि सामर्थ्यी विचारधारा की प्रेरणा प्रमुख थी किन्तु राष्ट्रीय-सांस्कृतिक प्रवृत्तिया को भी अध्यायन रूप में इसमें बल मिला। 'नबीन' जैन उस राष्ट्रीय कवि की घानिमयी बाणी आ छायावाद के मीरम-रमप

रोगी परिषदा में कुछ घनामयिक-सी प्रतीत होने लगी थी इस उलझित वातावरण में फिर स हुकार उठी। इस प्रकार यह 'जबीन' की कविता का पुनर्जीवन काम था। नम मूर्खों का प्रचार करनेवाले धानाचक्र उनकी रचनाओं के प्रचुर उदाहरण देकर अपने मत की पुष्टि कर रहे थे। मैं इस प्रचार-मान्वासन के पक्ष में नहीं था—काम्य के सुस्मिर मूर्खों में विश्वास होने के कारण उन प्रकारात्मक या प्रचार-प्ररित माहित्य के प्रति मेरे मन में एक प्रकार का घनाचर भाव था। परन्तु 'जबीन' जी की कविताओं ने मुझे घनापास ही घाहूँ कर दिया क्योंकि उनका उत्साह और उनकी उत्कृष्टि सहज अनुभूत और जीवन्त थी। भारत के युग-जीवन में प्रवाहित विद्युत् द्वारा का उनको ज्वलन्त अनुभव था। घत चाह के माँधी का प्रमत्ति-मान करें या उनकी पराजय-नीति के बिच्छु भाफों की समिध्वस्त या उदाम शूगार का उद्गीय उनकी बाली प्रतिबर्धन प्राण-रस से समिध्वस्त रहनी थी। इस प्रकार उनका काम्य सहज रसमय काम्य था—कोरा विद्वान्तवाह नहीं।

अपने सचत धानाचक्र मन में कुछ इसी प्रकार की घारणाएँ लेकर मैं अंतमस्त जीवन के उन कवि का व्यक्ति-गान करने लगा। उन समय तक मैं पत के अंतर्जात एक सौम्य-मधुर व्यक्तित्व के कामत सम्पर्क में था कृपा या निधता की मुक्तकतल बिच्छु पुष्प-मूर्ति के समिभूत करनेवाले प्रभाव को धारममात् कर चुका था महादवा की कविता के रसमीने रगों और उनके व्यक्तित्व एवं वैद्यमूया की मादपी के बीच सामजस्य स्थापित कर चुका था अपनी महत्त सामास्यता में घसामाम्य गुण-बंधुओं के व्यक्ति भद्र को मन और बुद्धि की धाँगों में घनग-घनन कर बैस चुका था। पर घात्र मैं इन सबसे भिन्न कवि के सामने बैठा था। इस कवि की गरीर-अंपत्ति धाकर्षक थी उन वैगकर घनापास हो बामादनी को वंक्तिनों का स्मरण हा घाया

अधमय की हृद्द मौम-भशियाँ उत्रस्थित था कीय अंपार
स्पर्धित शिगो स्वस्य रसत का होता था त्रिनने संचार।

ऐसा नहीं था कि वे घादनी इस गरीर-अंपत्ति में घनगन न हों—बिन्तु उनक मन की मस्ती इसी प्रबल थी कि मचेत हाने पर भी वे उनक प्रति बिनेर घ्यात देने में घममर्ष थे। उनक शुभ्र घनक-जान की मंबारी हुई बंजिया जहा इस बात का घामाम देखी थी कि वह स्वर्धित की भावना में मर्षया मुक्त नहीं है बहाँ उनका घुटनों तक का वीषिया इस रहस्य का उद्घाटन कर रहा था कि घनगः जीत उनक पक्षधन की ही होती है। मुरवि के घनरवागों में वह घन विविध नहीं है परन्तु मस्ती का मुग उन्हें उन मबकी उदेशा करने के लिए साधार कर देता है। उनके व्यक्तित्व में सामास्यता नहीं थी बिन्तु मत्रकता मरपूर थी। मैं काछी देर तक 'जबीन' जी के बात करता रहा—हिप्पो कविता

उनका समाज मन में एक हुक-सी पैदा करता है। कई बार उनके विषय में सिक्खे की प्रेरणा हुई—बाहर से भी और भीतर से भी किन्तु अभी तक उनकी मृत्यु का शोक मनायेग की स्थिति पार कर स्वाधीनता नहीं बन पाया। इसीलिए उसकी अधिभक्ति के निष्फल प्रयास से मैं बचता रहा किन्तु जब उनके प्रति भावार्थि धर्मिता करना अधिभार्य हो गया है। शास्त्र में जहाँ अनेक प्रकार के श्रेणों की वर्णन है वहाँ न जाने भावना के श्रेण की उपेक्षा क्यों कर भी गई है? मुझे लगता है कि धारणा के वैगण के लिए अन्य श्रेणों की उपेक्षा भावना के श्रेण से मुक्ति पाना अधिभार्यक है। धाम इस संस्मरण के द्वारा जब मैं उस श्रेण-मोक्ष का पहला प्रयत्न कर रहा हूँ तो मेरी कल्पना में नबीन जी के तीन चिन क्रमशः उभरकर आते हैं।

१ (कानपुर—१९४५)

अपने घोष-कार्य के संबंध में सामान्य-संक्रमण करता हुआ मैं स्वर्गीय प० कृष्णबिहारी मिश्र के धाम गंधीभी से कानपुर सीटा था। पं० बामकृष्ण शर्मा 'नबीन' उन दिनों वहीं थे। हमने दिन प्रातः काय ही मैं प्रताप-कार्यालय में उनके दर्शन करने पहुंच गया। वे मुख्य कार्यालय के भीतर ही एक छोटे-से कमर में बैठे थे—घायब उममें ही थे रहने भी थे। उन्होंने अत्यंत सहज भाव से मेरा स्वागत किया। उस समय तक उनका नाम साहित्य-जगत में प्रसिद्ध हो चुका था—राष्ट्रीय कवियों की पंक्ति में बं धरणी थे। किन्तु उनका केवल एक ही काव्य-संग्रह 'कृमिकृम' प्रकाशित हुआ था—उसका अध्यायन तो मैं कर चुका था किन्तु उसके आगे मेरा उनके इतिहास और व्यक्तित्व से परिचय नहीं था क्योंकि मैं न तो 'प्रताप' का ही पाठक था और न नबीन जी की कर्मसूचि कानपुर अधिका मध्यप्रान्त से ही मेरा कोई सम्बन्ध था। हिन्दी के एक विशिष्ट कवि के प्रति जिस प्रकार की श्रद्धा और सम्पन्न की भावना अधिलित थी मेरे मन में वह विद्यमान थी। साहित्य में उस समय तर मेरा भी प्रवेश हा चुका था मेरी प्रथम बार अधिभक्तता-मुम्नकें—'भूमिज्ञानंदन पंत' से लेकर 'विचार और अनुभूति' तक—प्रकाशित हा चुकी थी। धन 'नबीन' जी के लिए भी मैं सर्वथा अधिरिचिन नहीं था। हिन्दी कविता के इतिहास में यह बहु समय था जब छायावाद का श्वार उभर चुका था और उसक प्रति एक प्रकार का मुगर विश्वास बस पकड़ रहा था। जीवन और साहित्य क मूखम अधिभार्यक नुस्खों क शिष्ट बहिमु ग राष्ट्रीय-सामाजिक प्रकृतियां उभरकर सामने आ रही थी। इस धारोमन के पीछे यद्यपि बामपत्नी विचारधारा की प्रगणा प्रमुग थी किन्तु राष्ट्रीय-सांस्कृतिक प्रकृतियां को भी अधिभक्त रूप में हमसे बस मिला। 'नबीन' जीने उस राष्ट्रीय कवि की धानिमयी बाली को छायावाद क शौरभ-रमध

रेगमी परिवर्ध में कुछ असामयिक-सी प्रतीत होने लगी थी इस उत्तमिष्ठ बादा-
 बरण में फिर स हंकार उठी। इस प्रकार यह 'नवीन' की कविता का पुनर्जीवन
 काम था। मय मूर्खों का प्रचार करनेवाले घालाचक्र उनकी रचनाओं के प्रचुर
 उदाहरण देकर अपने मत की पुष्टि कर रहे थे। मैं इस प्रचार-माय्योत्पन्न के
 पक्ष में नहीं था—काम्य के सुखिभ्र मूर्खों में बिस्वाम होने के कारण उस
 प्रचारोत्पन्न या प्रचार प्ररित साहित्य के प्रति मेरे मन में एक प्रकार का घनादर
 भाव था। परन्तु 'नवीन' की कविताओं ने मुझे घनायास ही घाहृष्ट कर
 लिया क्योंकि उनका उत्साह और उनकी उत्कृति सहज अनुभूत और जीवन्त
 थी। भारत के युव-जीवन में प्रवाहित विद्युत्-धारा का उनको स्वसन्त अनुभव
 था। घन चाहे वे गांधी का प्रवृत्ति-गान करें या उनकी पराजय-नीति के
 विरुद्ध घालोस की घमिभ्यक्ति या उद्दाम गृगार का उद्गीय उनका वाणी
 घनिघायत प्राण-रस स घमिपिक्त रहती थी। इस प्रकार उनका काम्य महज
 रममय काम्य था—बोरा मिठान्तबाह नहीं।

घन सपत्त घामोचक मन में कुछ इसी प्रकार की धारणाएं सकर मैं
 घसमम्य यौवन के उम कवि का ब्यक्ति-दयान करन गया। उम समय तक मैं
 पंत के अंतर्बाह्य एक मीम्य-मपुर ब्यक्तित्व के कोमल सत्पक में था चुका का
 निराला की मुक्तकुंतल विराट पुरप-भूति के घमिभूत करनेवाले प्रमाच को
 घात्ममात् कर चुका का महान्दी की कविता के रममीन रंगों और उनके
 ब्यक्तित्व एवं वेधमूपा की सारणी के बीच सामंजस्य स्थापित कर चुका या
 घपनी महज सामान्यता में घसामाम्य गुप्त-बंधुओं के ब्यक्ति भद को मन और
 बुद्धि की घाणों से घलग-घलय कर देग चुका था। पर घाच मैं इन सबसे भिन्न
 कवि के सामने बट्ट था। इस कवि की शरीर-मपत्ति घाचरंिक थी उमे देगकर
 घनायाम ही वामायनी की पंक्तियों का स्मरण हो घावा

अवयव की दृढ़ मांस-परियाँ उजस्यित था पीय अपार
 स्फुरित शिराणें स्वस्य रक्त का हाता भा मिनमें संचार।

ऐसा नहीं था कि वे घानी इस शरीर-मपत्ति में घसमन न हों—बिन्तु उनका
 मन की मली इतनी प्रबल थी कि सचेत होने पर भी वे उसके प्रति बिदेय
 घान देने में घममर्ष थ। उनका घुन्न घमक-जान की संवादी हुई कविता जहां
 इस बाव का घामास देनी थी कि वह स्वरति की भावना न मवपा मुक्त नहीं
 है कहां उनका घुटनों तक का जीपिया इस रहस्य का उद्घाटन कर रहा था कि
 घंगन जीत उनके कवक-इयन की ही होती है। सुरधि व घनघारों न बर घन
 रिचिन नहीं है परन्तु मनी का मुग उन्हें उन मवकी उदेशा करने के निज
 माधार कर देता है। उनके ब्यक्तित्व में सामान्यता नहीं थी बिन्तु महजता
 मगुर थी। मैं काठी देर तक 'नवीन' को से बाव करता रहा—द्विधो कविता

के विषय में और स्वयं उनकी कविता के विषय में भी । जहाँ तक मुझे स्मरण है वे सुनते ही धमिक रहे बोले कम । मैं उनके काव्य से प्रभावित था उसमें अभिव्यक्त तादृश्य का प्रवेग—शृंगार और बीर दोनों रूपों में—मुझे सहज आकृष्ट करता था । किन्तु छायावादी कला का अम्भस्त मेरा मन उनकी अभिव्यक्ति से असुष्ट नहीं था । उसमें शक्ति और शोक का पर उसको उबारनेवाला कमारमक संयम कदाचित् अभीष्ट मात्रा में नहीं था—मैंने अपना महत्त्व बिना किसी दुराव-क्षिपाव के उनके सामने व्यक्त कर दिया । बोले हाँ भई, यह है—तुम जैसे तस्यु आसोजकों को इस दिशा में भाग-वर्धन करना चाहिए । मैंने तुरन्त ही संजय होकर उनकी मुखावृत्ति की ओर देखा कि कहीं मेरी उस अनवरत आसोजना पर उन्होंने व्यस्य तो नहीं किया—किन्तु उस मुक्त दृष्टि में कहीं भी बहता नहीं था ।

फिर मैंने उनसे कविता-पाठ के लिए निवेदन किया । उन्होंने कुछ शृंगार के शीत और कुछ राष्ट्रीय कविताएं मुझे सुनाई । उस स्वर में अपूर्व आकर्षण था—काव्य-पाठ करते समय उनका व्यक्तित्व एक विशेष रस-शीघ्रि से मण्डित हो उठता था । उनका स्वर-संवाग वहाँ हृदय के कवित्व का बाहर की ओर संश्लेषण करता था जहाँ अर्धनिमीलित धारों उस बहिष्पत रस को फिर से प्राणों की ओर धींचने का प्रयास-सा करती थीं । काव्य का शब्दार्थ जैसे बूझी बार प्राणों के रस से अभिव्यक्त हो उठता था । उनके उस ठमस काव्य-पाठ का वैश्व-मुक्तक अनायास ही संस्कृत काव्यशास्त्र की इस मान्यता का अङ्गन हो जाता था कि 'कवि' करोति काव्यानि रसं जानाति पण्डित' । जिस प्रकार मरी का जमर प्रवाह कुछ कंकड़-मत्तयों को भी सहज रूप में बहा ले जाता है उसी प्रकार उनकी सटीक वाग्धार में जो चार अनगड़ अम्भ अमभित ही बह जाते थे । मैं कवित्व के मूर्त और अमूर्त रूप का आगाहकार कर आत्म-विमोद ही गया और प्रणाम कर लौट आया । अपने पुण में लकीनजी का काव्य-पाठ वास्तव में अप्रतिम था । संगीत का भी उन्हें ज्ञान था और ज्ञान के उसकी ओर बढ़ने लगे थे । बाद में आकर उनका काव्य वर्तन से और काव्य-पाठ संगीत में बोधित होने लगा था—एक में प्राणों की मस्ती और दूसरे में बाणी का मुक्त प्रसार बबने लगा था । मैंने कई बार उनसे पूछ रूप को उद्बुद्ध करने की चेष्टा भी की किन्तु उस समय तक वर्तन और संगीत के मोह ने उनके मन और बाणी को काफी जकड़ लिया था इसलिए कोई लाभ नहीं हुआ । उनके काव्य रगियों को मरी ही तरह हमने निरपरा होनी थी किन्तु वे अपनी ऊर्ध्व स्थित रचनाओं को भी प्रापहृदक मात्र ही पढ़ते थे । और, अन्त में तो रस के विचार में वे सब अन्तस्मिनी ही देख रहे थे—बाणी का शोक और प्रसार दोनों ही कृत्रिम हो गए ।

२ (दिल्ली—१९५६)

दूसरा बिज दिल्ली के साहित्यिक जीवन को एक बरगु-मधुर घटना से सबद्ध है। ८ दिसम्बर १९५६ को दिल्ली के साहित्यकारों की धोर में नबीन जी की ६३वीं बपगांठ मनाये का आयोजन किया गया। व्यवस्था का भार प्रांतीय सम्मेलन के प्रधानमंत्री श्री गोपालप्रसाद व्यास ने संभाला और गांधी-उद्यान में कवि के धोर के अनुकूल अभिनन्दन-ममारोह रखा गया। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त समापति के धोर दिल्ली के प्रायः सभी साहित्यकार उपस्थित थे। कार्यक्रम मन्ना और भद्रानुषों की सूची बहुत बड़ी थी। नबीनजी का स्वाम्य उबतक काफी बिकड़ चुका था—बाणी मर्बया कुच्छिन्ना हा चुड़ी थी—धरीर धीर हृदय दुर्बल हा गए थे बेर उब बैठने के मिए डाकारों की अनुमति नहीं थी। इमलिए कार्यक्रम के मजामन का बालिस्व मीने अपने ऊपर न लिया। इस अभिनन्दन में उन्नाय का बाताबरण नहीं था—एक बिपान की छाया में कहना चाहूंगा कि धामन मृत्यु की छाया सर्वत्र बिद्यमान थी। मुझे मय था कि कार्यक्रम का फरक कही भावात्मक न अमावात्मक न हो जाय अर्थात्—अभिनन्दन और मंगल-कामना के स्थान पर अमंगल के बिचारण की बाप्रता ही कही प्रमुख न हा जाए। हुमा भी कही धीर प्रयत्न करने पर भी मैं सत्य पर आबरण न राम सका। बालक में कवि की स्थिति उस समय ऐसी थी कि उमे दलने हुए घतायु की कामना धारम प्रबंजना-भात्र हाती!

नवीन जी श्री मैथिलीशरण गुप्त के पास मननय के महारे कामीन पर बैठे हुए थे। उनके धामपाम अक बरिष्क उम कामीन थे। बेग धादि भी उनका कही बिच-बिचिचि था धरीर पर मुदर मिली हुई धरखानी धोर मिर पर कही बकिमा के साथ धारण की हुई गांधी टोपी त्रिममें से दारों धोर उनके शुभ्र बंग-गुच्छ धलय दिगार्ई दे रहे थे। बे सामान्यत प्रसन्न थे फिर भी सयता था माना उनकी धारमा का अठय प्रकाग बिमीन हो गया है—उम पुरप धरीर की कपरेता तो पूबंरत् स्नाष्ट थी किन्तु रंग अमे रोम पुजा था। उनकी पर ठेरोदीष्ट हृष्टि अस्तमूर्ता हो गयी थी और मन के भावों की निगिस अंजना बेबम 'हरे राम' में मिमटार रह गई थी। कवि दिनकर ने अभिनन्दन पर पत्रा बिषम कवि बोडा धीर मनीया का एत्र रानत्र था। दिनकर की धोरखी बाणी न बाताबरण कुछ बरमा—अभिनन्दन के अनुकूल धोर का मचार हुमा किन्तु त्रिस समय के अभिनन्दन-त्र समर्पित कर धारण-नर्ता के लिए मुझे मर्बनजी की अबरद बाबुबता मरगा इर्बानुन हा गई। इम बटना का अमाय दुनिशर था—मर्बनजी धारें धानधना उगी दहा—श्री मैथिलीशरण गुप्त अपने धारने न संभाय मरै अय बरिष्क उम भी तिबलिन हो उठे। त्रिणी के साहित्यिक जीवन में यह एक अत्रं पन्ता था। त्रिणी के राष्ट्रीय काम्य की

तीन बिकास-सैक्यार् मानो एक पाप-विन्दु पर धाकर प्रतापान ही मिल गई थी। विनकर के साथ घनेक बस्ताघों ने अज्ञानमिया घात थी—किन्तु कल्या का वह भीना पट हट नहीं सका—वरन् धीर की गाढ़ा हो गया जबकि स्वर्गीय आचार्य अनुरोधेन शास्त्री ने आदेश में धाकर यह प्रार्थना की कि भगवान् उनकी धातु का कुछ धंरा नबीनबी को प्रदान कर दे। भगवान् ने कराबित् उनकी प्रार्थना का पूर्ण ही सुना—धीर आचार्य की धातु तबनुच नबीनबी से पूर्व ही निरक्षेप हो गई।

३ (महायात्रा)

घन्त में है कवि की महायात्रा का कल्या हस्य ! जैसाकि श्री विनकर ने अपने मासिक सस्मरण में लिखा है, नबीनबी के जीवन के अन्तिम तीन वर्ष मृत्यु के साथ निरन्तर संघर्ष में बीते। घनेक भीषण रागों ने मिलकर उनपर प्रहार किए—हृदय रक्तपात बनाघात घर्ष धीर घन्त में कराबित् फेकते वा कैसर। भारत के प्रहारों को तो उन्होंने अपने सहज मुकुलु भाव से सेना किन्तु पक्षाघात ने जब उनकी बाणी को कुच्छिन्न कर दिया तो मुझे लगा कि उनका मन भी हारने लगा। बाणी धीर घर्ष का कितना अविच्छिन्न संघर्ष है मन ही बाणी को प्रभावित नहीं करता बाणी भी मन पर अनिर्धार्य प्रभाव डालती है। नाभ्यशास्त्र के अन्वयन-अभ्यास में मेरा यह अर्थना विषय रहा है स्वदेश-विदेश के घनेक आचार्यों ने अन्वीर ठकों के द्वारा इस तथ्य की प्रामाणिक स्थापना की है। बुद्धि द्वारा सुहीन यह तथ्य नबीन बी को देखकर प्रतापान ही मेरे पट में उतर गया। अविच्छिन्न वा अभाव उनके मन में एक विशिष्ट प्रकार की भ्रमण धीर कुंठा पैदा करने लगा धीर जब उम्ह यह बिस्वास हो गया कि बाणी अब नहीं सौटेगी तो पहली बार उन घोड़ा ने जैसे मृत्यु के क्षणमें हथियार बाण दिए। रोय के तीवरे धारण के बाद मित्रों के नुरान-प्रश्नों के उत्तर में फिर वे यही कहते थे—“तुं माई कुछ है नहीं।” हिन्दी मसारा में नबीन बी को बाणी का अपूर्व बरदाब प्राप्त था—बैठी बागिमठा वह स्वर-संपदा कंठ की वह अर्वा अत्यन्त दुर्लभ थी। मैंने एक बार एक बिराट मजा में हिन्दी की बरिया कर उनका भाषण सुना था—प्रधानमंत्री के कुछ वाक्यों का सङ्ग्राह है उल्लेखित हो उठे थे। ऐसा लगता था जैसे पाटलिपुत्र की प्लाहवी में बाद घा गई हा। इस प्रकार के धीर भी कई विश्व मेरी स्मृति में आस्वर थे। ऐसी भूमिना में जब मैं उन्हें अन्वयाय होकर राधों के साथ अमरुत बार-बार हारते दगता था ता मन का बड़ी चोट सपती थी। उनका मन रखने के लिए इन लोग भी अभी-अभी उसी प्रकार जीवन का अभिनय करने थे तो वे बड़े खोर से हंस पड़ते थे। एक बार भारतीय-संगम की

विचार-मोर्छी में 'साहित्यिक' की परिभाषा क विषयमें कुछ विवाद हो गया। मैंने अपने मन को कुछ अधिक उद्वेग क साथ व्यक्त करत हुए कहा—“मुझे पड़े है कि बिनाबाजी की रचनाएँ नी मुद्द साहित्य की परिधि म घा सकेंगी या नहीं ?” यह सुनकर क एकदम झड़क उठ और बान— गुम—गुम—गु क्या बक “ने हा।” अपने जीवन क अन्तिम बर मं अतिव्यक्ति क अभाव म धारण की मात्रा उनमें और भी बढ़ गई थी—कभी-कभी क दहा पर भी जिनका कि क धान ज्ञात नियमित रूप म अरगु-अरगु करने म बिना किसी कारण क तापत्र हो जाते थ। परन्तु उनका यह ज्ञास रीत का न्यायी न छ कर तब तक कल्या का सचारी बन चुका था और हम मनीन उनम विवाद न करने का संकल्प कर लिया था। धीरे-धीरे हमारी प्रतिक्रिया उनक धारण का देखकर बहुत कुछ बसी ही हान सगी थी जमी कि किसी कामक क धारण को देखकर उनके परिजनों के मन में जाती है। गाँधी म उनकी धारण-वृद्ध काजो को सुनकर हम सब सोच हम पड़े और थ भी यह कहत हुए बैठ गए— ‘यू बड़ा’ ‘बच’ कुछ है।”

राम का अन्तिम आक्रमण उनका मेकर ही गया। क कई मराम विविग्हन अस्पताल में रहे। हम साथ नियमित रूप म उनक पास धार जाने रहत थे। बीच में वे कुछ टीक भी हुए परन्तु प्रयत्न करत पर भी अस्पताल में बाहर नहीं धार। कोई एक महीने म उनकी हामत स्यास बिगड़ने लगी और मुन तथा शरीर के अन्य अंगों पर साथ क अलग प्रकट हो गए। एक दिन रात को जब मैं गया तो बोन कि यह तो बन-बनास क दिन है। मैंने अपने और उनके मन को ताकम देने का निष्पत्त प्रयत्न किया और कुछ देर बाद सोट धाया। उस दिन रात को मुझे नींद नहीं धार। उनक जीवन में संबद्ध अनेक स्मृति चित्र अपने परिवार क कुछ हमी प्रसार क अरगु हस्य एराप परिवहन के स्वाग्म के विषय म अना धारण-तरह-तरह क मयाबह का धारण कर मेरी बेतदा का नाम देनी रही। फिर मैं अस्पताल लरी गया—२३ अग्रम ६० को अरगु म उनके पर ही पक्या—जन्मी जी क नहीं जन्मी जी के लव के दर्शन करने क लिए। उनका तब ५, बिष्णगर धेम में उनक विविपरिचित निराम-अवत के अरामने में रखा था। दग क मृष्य नेता अपने उस अमिम गुरुजी के प्रति असीम भेंट करने क लिए धा हा रहे थे—राज्यपति उर राज्यपति प्रयासमंथ गुरुमंथी धार। कुछ दर तब अरमम मुग में तब के मामत गड़े हाकर फिर उनके अरगार के विषय में धारण-निर्मां करने क लिए पर क भीतर अने धार। बड़े लोग उर हत हत धी जन्मीजी माधुर के साथ में धारें बना। अरगु अरम पर मैं नदीय जी का अरगु-अरगु तो कर निदा परन्तु उनके मुग की धार देखने का मेरा माग्म क रथा। माग्म-अरगु

मुझे अपने मुँह-बुल की सार्वजनिक अभिव्यक्ति अच्छी नहीं लगती थीर मैं ऐसे प्रबन्ध को या तो बचा जाता हूँ या समय से काम लेता हूँ। किन्तु इस समय मेरे लिए इन दोनों में से कोई भी विकल्प संभव नहीं था थीर मैंने अपने मन में कहा कि मानव होकर मानव-दुर्बलता की स्वीकृति से क्या करना।

क्रुद्ध समय में ही यह निर्णय कर लिया गया कि नबीन जी का अन्तिम संस्कार उनकी कर्म-भूमि काठपुर में होगा। इस विषय में क्याचित् क्रुद्ध मत्-भेद या जो परिजनों की परिधि से बाहर निकलकर मित्र-संबन्ध तक फैल गया था। मेरी अपनी धारणा थी कि यह आन्तरिक प्रश्न है जिसका समाधान नबीन जी के परिवार को ही करना चाहिए किन्तु क्रुद्ध मित्रों का आग्रह था कि नबीन जी का व्यक्तिगत सार्वजनिक है इसलिए उनके अन्तिम संस्कार के प्रश्न का समाधान भी सार्वजनिक होना चाहिए। स्थिति को देखते हुए मुझे यह सब अच्छा नहीं लग रहा था तभी सीमाप्य से समर्प व्यक्तियों ने धीमे ही निर्णय कर यह घोषणा कर दी कि रात को घाट बजे की गाड़ी से कबि का सब काठपुर के लिए प्रस्थान करेगा। अपने को अनधिकारी मानते हुए भी मेरे मन ने कहा कि निर्णय ठीक ही हुआ थीर मैं ९ मार्च एवेन्यू चला गया। गुप्त जो इसके क्रुद्ध पहले ही भीषण रोग-ग्रस्त हो चुके थे। उस समय स्वयं इम्पु होते हुए भी नबीन जी ने उनकी परिचर्या में बड़ी भाव-बौद्ध की थी। डाक्टरों का धब भी नहीं आदेश था कि जहाँ तक हो उन्हें घरीर थीर मन के धम से बचाया जाए। इसलिए अनेक मित्रों थीर स्वजनों की राय थी कि बहा स्टेसन न जाएं। मुझसे भी उनके स्वास्थ्य की चिन्ता किसी से कम नहीं थी किन्तु फिर भी यह बात मेरे मन में नहीं बैठती थी कि नबीन जी की उस अन्तिम विद्या-वैला में वैश्वीकरण पुण्य उपस्थित न हों। मेरे अतिरिक्त एक व्यक्ति थीर था जो मेरी ही तरह सोच रहा था पर वह नहीं पा रहा था—वह था गुप्त जी का आत्मज चिरंजीव उमिस्ताचरण जिसका नबीन जी के प्रति प्रभाव अनुपम था। उसने तुरन्त ही ध्यान से जाकर मुझसे कहा—“डाक्टर साहब क्या वह ठीक है?” उसके इस प्रश्न से मेरे मन की दुविधा एक क्षण में विसीन हो गई थीर मैंने धारवस्त होकर उत्तर दिया—“नहीं बहा को बहा बचना चाहिए।” दहा बेचारे बेचम होकर मित्रों का वह सत्परागर्ष मृत रहे थे। ज्योंही मैंने अपना मत व्यक्त किया पन्डितजी बोले—“बिन्दुस ठीक है—हमें जाना चाहिए थीर हम जाएँगे।” रात बजे हम लोप स्टेसन पहुंच गए। रिस्की का अपार अम-समुदाय स्टेसन पर उमड़ पड़ा था। छोटे-बड़े सभी साहित्यकार, हिन्दी-सैबी अनेक राज-गुरु थीर राजनीतिक नेता आदि लोप ही इनके अतिरिक्त ऐसे अनेक धनवाने व्यक्ति भी जहाँ नड़े रो रहे थे जिसका न माहित्य ने संबंध था न संरूति ने, न राजनीति ने—जो बचम मानव होने के नाते नबीन जी के आत्मीय बन पर

ये । पूर्वों से सदा नबीन जो का अस्वि-शेष शरीर माथी क दिव्य में रस दिया गया । समवेत जन एक-एक कर उनके प्रति अपनी अर्द्धांगिणी अर्पित करन लग घोर जब पाड़ी क पमने में थोड़ी देर रूई गई तो हम सागों न महारा दर पुणजी को दिव्य में चढ़ाया । ब दा शगु मोन हुए—कशचिन् उसी समय उनकी बरि बतना में निम्नलिखित पंक्तियों का मूल भाव स्पृगित १। गया था

कहाँ भाव वह अंधु हमाग,
 तिमके मानस की रस-धाग,
 आप्लावित करनी थी हमकर ।
 उससे अर्द्धांगिणी की आशा,
 रगती थी मरी अनिलापा,
 अनहानी ही प्रिय है यम का ।

हम लोगों ने भी अन्तिम बार उनकी पद-बंदना की घोर बुद्ध ही देर म दादा पट्टी पर रेंग उठी । सारा प्लटप्लम नबीन जी क जय-जयहार म मूल उठा ।

नबीन का आश कौटिल्य-रूप रूई लग है । समय ने उनके बिरह का भाव ना बहुत बुद्ध दूर दिया है । अभी बुद्ध दिन पवन उनके विषय म पचाई १। रही थी । एक प्राकृत मित्र ने उनके आकत-नाम म ही बजा सिंग पा रि के महा मानक थे । हमपर एक तन्म-रणी आनोषक म मन्मथ प्रथन दिया था कि क्या मानक बरिष क एक नी-दार म ब मुक्त प ? आश में सोचना है कि बन्धु-मत्त क्या है ! और क्या हृदय ही नहीं बुद्धि थी पर उलट दगा है कि इन दापों क अभाव में ना ब मानक हो न रूई । बिगमद आना क मरुग दुगों के माप मृन्मय प्रकृति के समस्त दापों क समवाय का नाम है मानक—घोर यदि महामानक का अस्मिन्म तम कसाग में है ना बर सर्वांग मानक का बहल्लर या मरुतर रूप ही १। बनना है चार-मुल्ल मरुग मानक का मना । मैं मरु मानक का इगम अर्पिक सुद्ध लगानु मरी बर मकत—घोर तिम अन्ति मने बनने आकत में क्या ही देन है तिनपर मर मरुग मनात ना की अन्म अर्पिक गटीक बंनगा हा ।

परिशिष्ट

जीवन-परिचय

पूरा नाम, साहित्यिक उपनाम

सहित—

—नगेन्द्र

पिता का नाम—

—पं० राजेन्द्र

परिवार तथा पूर्वजा का

संक्षिप्त परिचय—

—पूर्वज—पश्चिमी उत्तरप्रदेश के सनातन्य
ब्राह्मण—सस्तनगाइय व्यवसाय
जमींदारी ।

पिता—प्रायममाजी मेखन घोर नेता ।

परिवार—माता-पिता के अतिरिक्त पत्नी

तथा दो पुत्रियाँ —(१) डा० मुपमा

प्रियदर्शिनी एम० ए० पी० एच० डी०

विवाहित प्राध्यापिका इन्द्रप्रस्थ वर्ल्ड

कामज दिस्सो बिदरविद्यालय दिस्सो

(२) प्रतिमा प्रियदर्शिनी—एम० ए०

हिन्दी प्राध्यापिका—सेबी भीराम

कॉलेज फॉर वीमेन । आमाता—सर

बिन्दु प्रबाष पारागट, अधिनामी

अभियंता (एंग्लोवैदुलिय इन्जीनियर)

केन्द्रीय सोन-सेवा विभाग दिस्सो ।

जन्मस्थान—

—प्रतरीसी (असीगड) यू० पी० ।

जन्मतिथि—

—(बिक्रमी घोर ई०) पत्र कृष्णा ६ सवत्

१९७१ बिक्रमी । मार्च १९१५ ई० ।

शिक्षा—

—(स्थान—प्रतरीसी अनुपगहट, बन्दीसी

भागल) एम० ए० हिन्दी (नागपुर वि०

वि० १९१७) एम० ए० पंजाबी

(सट थाम्ब कामज भागल—१९१९)

डी० लिट्० (हिन्दी) (१९४९ '४७

भागल वि० वि०) ।

प्राप्त उपाधियाँ, सम्मान,
पदक आदि—

—(१) कासमिया पुरस्कार, (२) उत्तर प्रदेश हिन्दी समिति पुरस्कार, (३) मध्य प्रदेश हिन्दी परिषद् पुरस्कार ।

पद—

—(१) अभिष्ठाठा (डीन) कमा संकाय दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली (१९५८-१९९०) (२) अध्यक्ष मानव की शोध मंडल (बेयरमेन बोर्ड ऑफ रिसर्च स्टडीज इन एंथ्रोपमेट्रीक दिल्ली वि० वि० दिल्ली) ।

व्यवसाय एवं जीविका—

—अभ्यापन अध्यक्ष हिन्दी विभाग दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली ।

अन्य साहित्यिक सेवाएं—

—आय सभी प्रकार की विविध हिन्दी संस्थानों एवं भारत सरकार की हिन्दी समितियों की सदस्यता के माध्यम से साहित्यिक सेवा का बखतर प्राप्त ।

अन्य उल्लेखनीय सामाजिक
तथा राजनीतिक काम—

—सामाजिक तथा राजनीतिक सेवा-कार्य के प्रति भारतम्भ से ही एक प्रकार की विश्वि-भी रही है ।

अप्रकाशित रचनाओं के
नाम—

—(१) भारतीय रसशास्त्र (अपूर्ण)

प्रकाशित प्रमुख सेवा की
सूची—

—आय सभी सद्य पुस्तक-रूप में प्रकाशित हो चुक है ।

प्रथम

(प्रकाशित पुस्तिका की सूची)

पुस्तकों का नाम	प्रकाशक	सेशन-प्रकाशन तिथि
मौलिक		
गुमिबानदन पत्र	साहित्य रत्न भंडार आगरा ।	१९२८ ई
गान्धेय एक धर्म्यपत्र		१९२९ ई
आधुनिक हिन्दी नाटक	"	१९६० ई०
विचार और अनुभूति	नगनम पब्लिशिंग हाउस नई मद्रक दिल्ली ।	१९४६ ई०
विचार और विवेचन		१९४९ ई०
रीतिकाम्य की भूमिका	प्रथम संस्करण—गौतम बुद्ध टिपो नई मद्रक दिल्ली । द्वितीय संस्करण—नगनम पब्लिशिंग हाउस नई मद्रक दिल्ली ।	१९६९ ई०
देव और उनका कबिता	प्रथम संस्करण—गौतम बुद्ध टिपो नई मद्रक दिल्ली । द्वितीय संस्करण—नगनम पब्लिशिंग हाउस नई मद्रक दिल्ली ।	१९४९ ई०
आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ	नगनम पब्लिशिंग हाउस नई मद्रक दिल्ली ।	१९४७ ई०
विचार और विवेचन		१९२२ ई०
भारतीय साम्यवाद की भूमिका (दूसरा भाग)	आरिण्टिंग बुक टिपो नई मद्रक दिल्ली ।	१९२२ ई०
धर्म का साम्यवाद	भारती भंडार, सीटर प्रथम इलाहाबाद ।	१९२७ ई०
नाम्य म उदात्त शब्द ('दि उदात्त' का हिन्दी अनुवाद)	राजराज एंड सन्स पन्नीरी पट दिल्ली ।	१९२८ ई०
अनुसंधान और आस्था	नगनम पब्लिशिंग हाउस नई मद्रक दिल्ली ।	१९६१ ई०

प्राप्त उपाधियाँ, सम्मान,
पदक आदि—

—(१) डासमिया पुरस्कार, (२) उत्तर
प्रवेश हिन्दी समिति पुरस्कार, (३) मध्य-
प्रदेश हिन्दी परिषद् पुरस्कार ।

पद—

—(१) अधिष्ठाता (डीम) कला सहाय
विस्वी विश्वविद्यालय विस्वी (१९२८
१९६०) (२) अध्यापक मानव की सोच
मदम (बेयरमेन बोर्ड ऑफ रिसर्च स्टडीज
इल प्रू मैनिटीज, विस्वी बि० वि०
विस्वी) ।

अवसाय एवं जीविका—

—अध्यापक अध्यापक हिन्दी विभाग विस्वी
विश्वविद्यालय विस्वी ।

अन्य साहित्यिक सेवाएँ—

—प्रायः सभी प्रकार की विविध हिन्दी
संस्थाओं एवं भारत सरकार की हिन्दी
समितियों की सदस्यता के माध्यम से
साहित्यिक सेवा का अवसर प्राप्त ।

अन्य उल्लेखनीय सामाजिक
तथा राजनीतिक कार्य—

—सामाजिक तथा राजनीतिक सेवा-कार्य
के प्रति धारणा से ही एक प्रकार की
बिबिध-सी रही है ।

अप्रकाशित रचनाओं के
नाम—

—(१) भारतीय रसशास्त्र (अपूर्ण)

प्रकाशित प्रमुख सेवाओं की
सूची—

—प्रायः सभी सेवा पुस्तक-रूप में प्रकाशित
हो चुके हैं ।

ग्रन्थ

(प्रकाशित पुस्तकों की सूची)

पुस्तकों का नाम	प्रकाशक	वैकल्य-प्रकाशन तिथि
मासिक		
मुमित्रानन्दन पत्र	मासिक्य रत्न मन्डार प्रामग ।	१९३० ई०
मासिक एक धर्म्ययन	"	१९९६ ई०
साधुनिव हिन्दी नाटक		१९६० ई०
विचार और अनुभूति	वैकल्य पत्रिका हिन्दी हाउस नई मद्रास दिल्ली ।	१९४८ ई०
विचार और विवेचन		१९४८ ई०
ऐतिहासिक की भूमिका	वैकल्य मन्डारण—वैकल्य दुक हिन्दी नई मद्रास दिल्ली ।	१९६६ ई०
	वैकल्य मन्डारण—वैकल्य पत्रिका हाउस नई मद्रास दिल्ली ।	
देव और उनकी कविता	वैकल्य मन्डारण—वैकल्य दुक हिन्दी नई मद्रास दिल्ली ।	१९६६ ई०
	वैकल्य मन्डारण—वैकल्य पत्रिका हाउस नई मद्रास दिल्ली ।	
साधुनिव हिन्दी कविता	वैकल्य पत्रिका हिन्दी हाउस नई मद्रास दिल्ली ।	१९२१ ई०
की मुख्य प्रवृत्तियाँ	"	
विचार और विवेचन		१९२२ ई०
भारतीय वाङ्मय की	वैकल्य मन्डारण पुन हिन्दी नई मद्रास दिल्ली ।	१९२२ ई०
वृत्तिका (द्वितीय भाग)		
परम्परा का वाङ्मय	भारतीय मन्डारण मन्डारण प्रेम इनाहावा ।	१९२७ ई०
वाङ्मय में उदात्त तरंग	वैकल्य मन्डारण पुन हिन्दी नई मद्रास दिल्ली ।	१९२८ ई०
(‘द्वि गणनात्म’ का हिन्दी अनुवाद)		
अनुवाद और	वैकल्य पत्रिका हिन्दी हाउस नई मद्रास दिल्ली ।	१९२१ ई०
अनुवाद		

गंगादिग		
हिन्दी ध्वजवाचक	नौतम बुक डिपो, नई सड़क, दिल्ली ।	१९५२ ई०
कवि भारती (सांगुनिग नाथ्य संग्रह)	साहित्य सदन बिरगांव (भांसी) ।	१९५३ ई०
हिन्दी काव्यांगकारगुन	भारताराम ँड संस कश्मीरी बेट, दिल्ली ।	१९५४ ई०
रीति शृंगार (रीति वारीग काव्य-संग्रह)	प्रथम संस्करण—नौतम बुक डिपो नई सड़क दिल्ली । अग्य संस्करण—साहित्य सदन बिरगांव (भांसी) ।	१९५४ ई०
हिन्दी पक्रोक्तिजीवित	भारताराम ँड संस कश्मीरी बेट दिल्ली ।	१९५५ ई०
भारतीय काव्यधारण की परम्परा	नैसमन पश्चिमिग हाडस नई सड़क, दिल्ली ।	१९५६ ई०
भारतीय नाट्य-साहित्य	रोठ मोरिग-रास हीरक जयंती समारोह समित नई दिल्ली ।	१९५५ ई०
हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास (बुष्ट भाग)	नामरी प्रचारिणी सभा काशी ।	१९५० ई०
भारतीय वाग्मब	साहित्य सन्त बिरगांव (भांसी) ।	१९५० ई०
इन्डियन सिट्रेबेर (अधेजी)	लक्ष्मोनारायण अदवात हास्पिटल रोड आगरा ।	१९५९ ई०
हिन्दी अभिनयभारती	हिन्दी विभाग दिल्ली बिरबविद्यालय दिल्ली ।	१९६० ई०
हिन्दी काव्य प्रकाश	ज्ञानमंडल निदिनेड वाराणसी	१९६० ई०

